परिषद्-पत्रिका

शोध-त्रैमासिक

आनन्दममृतं यद्विभाति

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज : स्मृति-तीर्थ

वर्ष : १८
अंक : २
आषाढ़, विक्रमाब्द २०३५; शकाब्द १९००; जुलाई, १९७८ ई०
वार्षिक एक ५

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय : प्रो० ठाकुरप्रसाद सिंह

डॉ० कुमार विमल

प्रधान सम्पादक

पं० श्रुतिदेव शास्त्री

सम्पादक

प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

'परिषद्-पत्रिका'-नियमावली

१. 'परिषद्-पत्रिका' में केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों, परिषद्-प्रकाशनों के समीक्षात्मक निबन्धों, सम्पादकीय टिप्पणियों, अन्य प्रकाशनों की समीक्षाओं, परिषद् के शोधकार्यों की प्रगति, 'परिषद्-पत्रिका' अथवा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्धों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय, साहित्यिक गतिविधियों आदि का प्रकाशन हुआ करेगा। 'परिषद्-पत्रिका' में कविता, कहानी, नाटक आदि का प्रकाशन नहीं होगा। परिषद्-प्रकाशनों के विज्ञापन के अतिरिक्त अन्य प्रकाशन-संस्थाओं के विज्ञापन भी पत्रिका में प्रकाशित होंगे।

२. गवेषणात्मक और आलोचनात्मक निबन्धों पर ही यथानिर्दिष्ट दर से अधिकतम ५०.०० रु० तक ही साम्मानिक दिया जा सकेगा; निबन्ध के मुद्रित प्रथम तीन पृष्ठ के लिए १०.०० रु० प्रतिपृष्ठ और शेष मुद्रित पृष्ठों के लिए ५.०० रु० प्रतिपृष्ठ की दर से साम्मानिक दिया जायगा। परन्तु, निदेशक को यह अधिकार होगा कि लेखक-विशेष की कृति और व्यक्तित्व को दृष्टि में रखकर कम पृष्ठ रहने पर भी ५०.०० रु० तक साम्मानिक दे सकेंगे।

सभी तरह की रचनाएँ स्वतःपूर्ण एवं उत्तम कोटि की होने पर ही स्वीकृत हो सकेंगी। निबन्धों के सम्पादन में काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा।

निदेशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-८००००४

●

आवश्यक सूचना

परिषद् के समस्त प्रकाशनों के निमित्त कृपया सम्पर्क स्थापित करें :

निदेशक

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना-८००००४

●

परिषद्-पत्रिका

[शोध-त्रैमासिक]

[७०]

म० म० पं० गोपीनाथ कविराज : स्मृति-तीर्थ

परामर्शदाता

पं० छविनाथ पाण्डेय : प्रो० ठाकुरप्रसाद सिंह
डॉ० कुमार विमल

०

प्रधान सम्पादक
पं० श्रुतिदेव शास्त्री

०

सम्पादक
प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

०

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-४

सम्पादकीय

श्रद्धया विन्दतेऽमृतम्

दो प्रज्ञापुरुष कालगत !!

जीवन के साथ मृत्यु का अविच्छिन्न आनुक्रमिक सम्बन्ध होता है। मृत्यु जीवन की पूर्णता का संकेत है। इसलिए, निर्गुणवादी विचारधारा में मृत्यु को मर्त्यभूमि की सहज घटना या आत्मा का परमात्मा के साथ मिलन का महासुख कहा गया है। और, यह भी बताया गया है कि जीवन और मृत्यु या सुख और दुःख की आँखमिचौनी काल की सहज क्रीडा है। योगियों को काल की यह क्रीडा भले ही सामान्य और सुखद प्रतीत हो, किन्तु मर्त्यवासियों के लिए तो दारुण पीडा बन जाती है। काल की क्रीडा की यह पीडा तब और दारुणतर हो उठती है, जब किसी कार्यक्षम व्यक्ति का असामयिक अवसान हो जाता है ! **श्रीजगदीशचन्द्र माथुर** तथा **प्रो० जगन्नाथराय शर्मा** क्रमशः १४ मई तथा १७ मई (सन् १९७८ ई०) को काल की इसी क्रीडा के असहज आखेट हो गये ! काल की इस निष्करुणता से हिन्दी-संसार पर जो अनभ्र वज्रपात हुआ है, उसकी दुःखगाथा हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक अश्रुपूर्ण अध्याय बनकर आवृत्त होती रहेगी !

सदा संस्मरणीय स्व० जगदीशचन्द्र माथुर

हिन्दी के धुरिकीर्त्तनीय प्रतिभा-पुत्रों में **स्व० जगदीशचन्द्र माथुर** मूर्द्धन्य थे। वे केवल व्यक्ति नहीं, अपने-आप में एक संस्था थे। बिहार में साहित्यिक एवं सांस्कृतिक जागरण तथा अधिकार और कर्त्तव्य की आत्मचेतना से विस्फूर्जित प्रशासन के पुरोधा के रूप में उनका सुदर्शन व्यक्तित्व और विलक्षण कर्त्तृत्व अविस्मरणीय है। पद के मद से रहित उनके अनाडम्बर सान्निध्य में अकृत्रिम आत्मीयत्व का बोध होता था। औदार्य और दाक्षिण्य से संवलित उनके हृदय में लोकोपकार की भावना भरी रहती थी। उनकी वदान्यता से '**परोपकाराय सतां विभूतयः**' जैसी कहावत अक्षरशः अन्वर्थ होती थी। अपने मृदुल व्यवहार से निहाल कर देनेवाले माथुरजी सबके लिए सदा संस्मरणीय बन जाते थे।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के चतुर्मुख उन्नयन में तत्कालीन शिक्षा-सचिव माथुरजी की भूमिका ततोऽधिक विशिष्ट रही है। उन्होंने परिषद् के माध्यम से हिन्दी को श्रीसम्पन्न उच्चासन पर प्रतिष्ठित देखने की आदर्श परिकल्पना तो की ही थी, हिन्दी की आदि-स्रोतस्क संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश, पालि आदि प्राच्यभाषाओं के साहित्यिक शोध-संवर्द्धन

के लिए भी महनीय कार्य किया, जिसके ज्वलन्त साक्ष्य हैं : प्राकृत-शोध-संस्थान, वैशाली; पालि-शोध-प्रतिष्ठान, नालन्दा; संस्कृत-शोध-प्रतिष्ठान, दरभंगा आदि। वे इन शोध-संस्थाओं के साथ पूरी अन्तरंगता से जुड़े हुए थे। वे साहित्य और संस्कृति के पुनरुद्धार के आकांक्षी थे। इसलिए वे, प्रायः निर्जनजीवी इन संस्थाओं में काम करनेवाले विद्वानों की साधना को व्यक्तिगत रूप से निरन्तर प्रोत्साहित और सम्मानित करते रहते थे। इन संस्थाओं के प्रति उनकी अविचल आस्था स्पृहणीय थी।

पुण्यश्लोक माथुरजी की आत्मा में वैशाली की पुरातात्त्विक संस्कृति के पुनरुद्धार की जो सारस्वत विकलता करवटें लेती रहती थी, उससे, उनके द्वारा संस्थापित 'वैशाली-संघ' के सभी अन्तरंग सहयोगी सुपरिचित हैं। वैशाली-गढ़ के निकट राजपथ की पार्श्वभूमि में स्थापित 'माथुर-स्तम्भ' सामान्य दृष्टि से भले ही उनके सम्मान का प्रतीक हो, किन्तु यथार्थतः वह उनकी उक्त विकलता का ही, लोकानुभूति द्वारा प्रतिष्ठापित, स्थापत्य-प्रतीक है। आन्तरिक आह्लाद की बात है कि 'वैशाली-संघ' (लालगंज) के मनस्वी मन्त्री तथा माथुरजी के निकटतम सहकर्मी **श्रीजगन्नाथप्रसाद साह** ने, उनके श्रद्धापर्व के अवसर पर, संघ की ओर से, वैशाली में, उनकी पुण्यस्मृति में संगमरमर की मानवाकृति मूर्त्ति के स्थापन एवं 'माथुर-स्मृति-ग्रन्थ' के प्रकाशन की उद्घोषणा की है। साथ ही, इस महत्कार्य के लिए संघटित उपसमिति के संयोजक, विधान-परिषद्-सदस्य, शिल्पाचार्य **श्रीउपेन्द्र महारथी** ने वैशाली-स्थित 'श्रीजगदीशचन्द्र माथुर-पुस्तकालय' के साथ 'कला-संग्रहालय' खोलने का सुझाव उपस्थित किया है और उन्होंने अपने सभी संगृहीत कलाचित्र एवं अन्यान्य कला-सामग्री इस संग्रहालय को अर्पित कर देने का आश्वासन भी दिया है। आशा है, उक्त उपसमिति के दूसरे संयोजक **श्रीनागेन्द्रप्रसाद सिंह**, विधायक के तत्त्वावधान में स्व० माथुरजी का यथानुष्ठित श्रद्धायज्ञ, यथानिर्धारित आगामी वैशाली-महोत्सव (महावीर-जयन्ती) के अवसर पर अवश्य ही पूर्णता प्राप्त करेगा। निस्सन्देह, वैशाली के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के प्रतीक 'वैशाली-महोत्सव' के साथ ही बोधगया की प्रसिद्ध 'बुद्ध-जयन्ती' के प्रवर्त्तक के रूप में माथुरजी का नाम बिहार के सांस्कृतिक इतिहास में अमिट है।

वाग्देवी के वरद पुत्र स्व० माथुरजी ने हिन्दी-साहित्य को अनेक रचना-विधाओं से परिपुष्ट किया है। वे एक साथ नाटककार, संस्मरण-लेखक और शोध-साहित्य के स्रष्टा थे। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित 'परम्पराशील नाट्य' तथा 'बहुजन-सम्प्रेषण के माध्यम' जैसी पुस्तकों के द्वारा उन्होंने लोकनाट्य की व्यापक बहुज्ञता तथा सूचना-प्रसारण की प्रविधि की मर्मज्ञता का प्रामाणिक परिचय दिया है, साथ ही तद्विषयक शास्त्र के अध्ययन की नई दृष्टि का सूत्रपात भी किया है। 'कोणार्क', 'भोर का तारा', 'ओ मेरे सपने', 'खँड़हर', 'मकड़ी का जाला' आदि नाट्यकृतियों में भारतीय समाज की द्वन्द्विल मानसिकता को रूपायित करने की दृष्टि से उनकी कुशल लेखनी की द्वितीयता नहीं है। 'दस तसवीरें' नामक संस्मरण-ग्रन्थ के द्वारा उन्होंने संस्मरण-लेखन-पद्धति को बिम्बात्मक विकास की नवकल्पता प्रदान की है। इस प्रकार, रचना की प्रत्येक विधा में, माथुरजी ने, शिल्प और शैली में

नवीनता और भावाभिव्यक्ति में प्राणवत्ता की प्रतिष्ठा करके अपनी निजता का स्वतन्त्र अभिज्ञान उपस्थित किया है। प्रत्येक स्थिति में निरन्तर नव्योद्भावन उनका सहज गुण था। जब वे आकाशवाणी के महानिदेशक के पद पर प्रतिष्ठित थे, तब उन्होंने ही 'विविध भारती' नाम देकर संगीत-प्रसारण के नवीन कार्यक्रम का: श्रीगणेश कराया था।

'भारतीय असैनिक सेवा' (आइ० सी० एस्०) के पांक्तेय पदाधिकारी माथुरजी बिहार-राज्यीय और फिर केन्द्रीय सरकार के विभिन्न उच्चतम प्रशासकीय पदों पर आसीन रहकर सरकारी सेवा के इतिहास में अपनी प्रशासनिक विचक्षणता, वैचारिक प्रवणता तथा प्रशस्य कार्यदक्षता का एक अनुकरणीय अध्याय छोड़ गये हैं। प्रशासनिक प्रपंचजाल से उनकी साहित्यिक चेतना बराबर अनावृत रही। प्रशासन की तरंगभंगुर पयोधि में उनका साहित्यपोत कभी दिग्भ्रान्त नहीं हुआ। उनका साहित्यकार उनके प्रशासक से सदा अपराजेय बना रहा, और जीवन के अन्त तक वे साहित्य-साधना के उत्तुंग प्रकाश-स्तम्भ की भाँति जगमगाते रहे—कूटस्थ बने रहे।

निश्चय ही, प्रशासनिक और साहित्यिक जगत् में प्रायोविरल माथुरजी जैसे प्रज्ञा-पुरुष के आकस्मिक लोकान्तरण से एक विशिष्ट युग का ही अन्त हो गया ! परिषद् की ओर से स्वर्गत माथुरजी की अतिशय उदार आत्मा के प्रति श्रद्धा के सौमनस्य-सुमन सविनय समर्पित हैं !!

□ **सूरिदेव**

साधुचरित प्रो० जगन्नाथराय शर्मा

पटना-विश्वविद्यालय के बहुश्रुत विद्याव्यसनी प्राध्यापकों की महनीय परम्परा में पांक्तेय, तत्कालीन हिन्दी-विभागाध्यक्ष **प्रो० जगन्नाथराय शर्मा**, शोध-सूक्ष्मेक्षिका से सम्पन्न प्रज्ञावान् पुरुष थे। उनका ज्ञान अगर्व था। विद्या के वितरण की दृष्टि से वे अपने अन्तेवासियों के प्रति सदा अकृपण बने रहे। आर्जव उनके वैदुष्य का प्रधान गुण था। वे सच्चे अर्थ में ऋजुप्राज्ञ थे। **'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'** की नीति के पालन में वे सदा सावधान रहते थे। उनका जीवनोद्देश्य था—कर्म की उपासना। उन्होंने प्रतिष्ठा को कभी प्राश्रय नहीं दिया, प्रतिष्ठा स्वयं उनकी कर्मनिष्ठा का अनुगमन करती थी। सांसारिक राग-द्वेष का ताप उन्हें कभी सन्तप्त नहीं कर सका। वे बराबर वीतराग बने रहे। ऐसे साधुचरित पुरुष का निधन निश्चय ही सन्तापकारी है !

पुण्यश्लोक **आचार्य नलिनविलोचन शर्मा**, पुण्यश्लोक **प्रो० जगन्नाथराय शर्मा** के आचार्यत्व के प्रति स्वभावतः नतशीर्ष रहते थे और उनके साथ उनका वैचारिक आदान-प्रदान निरन्तर चलता रहता था। प्रो० शर्माजी के लिए आचार्य नलिनजी के वैचारिक सन्देशों को संवहन करने का अवसर मुझे भी यदा-कदा प्राप्त होता था और उसी व्याज से मैं महेन्द्रू-स्थित आवास पर प्रो० शर्माजी के पुण्यदर्शन के सौभाग्य से संवर्द्धित होता रहता था। उस समय वे, बिहार के आद्य मुख्यमन्त्री **डॉ० श्रीकृष्णसिंह** के नाम पर स्थापित प्रसिद्ध शोद्ध-संस्थान 'श्रीकृष्ण-स्वाध्याय-मन्दिर' के निदेशन-कार्य में भी दत्तचित्त

रहते थे। उनकी विद्वत्ता का प्रभामण्डल सहसा मन को आवेष्टित कर लेता था। उनके निराडम्बर जीवन और विचारों की उत्कृष्टता से मैं सहज ही अभिभूत हो उठता था। सचमुच, वे विद्या और विनय की प्रतिमूर्त्ति थे।

हिन्दी की शोध-समृद्धि के लिए प्रो० शर्माजी की साधना-सिक्त लेखनी अहर्निश अविश्रान्त बनी रहती थी। उन्होंने अपनी चिन्तन-प्रणाली और कार्य-पद्धति एवं सारस्वत श्रमनिष्ठा से अनुसन्धान-जगत् के लिए अनेक नये आयाम उपस्थित किये। इस सन्दर्भ में उनकी 'मानसोद्गम-मीमांसा' नाम की गवेषणात्मक पार्यन्तिक कृति और 'सूरसागर' की विशद विस्तृत टीका की रचना उल्लेखनीय है। प्राकृत और अपभ्रंश के पण्डितों में तो वे अंगुलिगण्य थे। भाषाशास्त्र के तलस्पर्श अधीती प्रो० शर्माजी के नाम-ग्रहण से ही हिन्दी-संस्कृत-जगत् गौरवोद्दीप्त हो उठता था।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, प्रो० शर्माजी का, एक वरिष्ठ सदस्य के रूप में, सम्बन्ध प्राप्त कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करती रही। इसके अतिरिक्त, और भी अनेक साहित्यिक संस्थाएँ उनसे जुड़कर सनाथ होती रहीं। कहना न होगा, प्रो० शर्माजी के देहावसान से प्राच्यभाषाओं के मर्मज्ञ हिन्दी-विद्वानों की एक पीढ़ी ही परिलुप्त हो गई! परिषद्, द्युलोकवासी प्रो० शर्माजी की विमल विशाल आत्मा के प्रति आन्तरिक श्रद्धा निवेदित करती है!!

☐ **सूरिदेव**

o

प्रस्तुत स्मृति-अंक

परम हर्ष की बात है, 'परिषद्-पत्रिका' का वर्त्तमान सामान्य अंक संयोगवश ही पुण्यश्लोक **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी** की स्मृति में विशिष्ट भाव से प्रकाशित हो गया। हालाँकि, इसके लिए कोई पूर्वनिश्चित विधिवत् योजना नहीं बनी थी, फिर भी कविराजजी के अमूल्य दर्शन और सम्भाषण से उपजी मेरे मन की चिरसंचित श्रद्धा अपने सारस्वत विकास के लिए मार्ग अवश्य ढूँढ़ रही थी। महर्षिकल्प कविराजजी के प्रस्तुत श्रद्धार्चन-संयोग के अप्रत्याशित घटक के रूप में, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी के पालि-विभागाध्यक्ष तथा कविराजजी की सद्गुरुकल्पता के प्रति अनन्य श्रद्धा रखनेवाले **डॉ० जगन्नाथ उपाध्याय** की अहैतुकी प्रेरणा और सक्रिय सौजन्य-सहयोग का असाधारण मूल्य है। डॉ० उपाध्यायजी से, कविराज के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये आठ आधिकारिक लेख एक साथ प्राप्त हो गये, उनका ही समावेश इस अंक में किया गया है। इनके अतिरिक्त, यथासंकलित और भी दो-एक उपयोगी सामग्री इसमें सम्मिलित की गई है। कुल मिलाकर, यह अंक तन्त्रागम के तीर्थस्वरूप कविराजजी की जीवन-साधना का दिग्दर्शक स्मृति-तीर्थ तो अवश्य ही बन गया है। इसीलिए, इस अंक की संज्ञा 'स्मृति-तीर्थ' ही रखी गई है। यथाप्रकाशित

इस अंक के मूल्यांकन का अधिकार पत्रिका के सुधी-सुबुद्ध पाठकों को समर्पित है। इस नातिदीर्घ, किन्तु महत्त्वपूर्ण सारस्वत अनुष्ठान के आकस्मिक आयोजन और उसकी पूर्णता के निमित्त, परिषद्, डॉ० उपाध्यायजी का आत्मिक आभार सहज भाव से स्वीकार करती है।

म० म० पं० गोपीनाथ कविराजजी की सारस्वत साधना के ऐसे अनेक आयाम हैं, जो अभी तक अछूते पड़े हैं। उनके आगमिक सिद्धान्तों का, सूक्ष्मता और व्यापकता के साथ समीचीन विवेचन-विश्लेषण अभी शेष है। उनके प्रसिद्ध पार्यन्तिक आगम-ग्रन्थों में जो तान्त्रिक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनका व्याख्यात्मक कोश तन्त्रमार्ग के अनुसन्धित्सुओं के लिए अतिशय उपादेय सिद्ध होगा। आशा है, आगम-साहित्य के अध्ययन में सहज अभिरुचि और तन्त्रशास्त्र में गम्भीर प्रवेश रखनेवाले तत्त्वाभिनिवेशी श्रमनिष्ठ विद्वान् अवश्य ही इस अभाव की पूर्त्ति करेंगे। तथास्तु !

□ **सूरिदेव**

o

पत्र-साहित्य की समृद्धि : 'बाबू वृन्दावनदास के पत्र'

हिन्दी के आधुनिक विधा-विकास के युग में भी पत्र-साहित्य का अखरनेवाला अभाव बना हुआ है, जो निश्चय ही क्लेशदायक विषय है। हिन्दी के साहित्यकारों में ऐसे महानुभाव कम हैं, जो पात्रिक संस्कार से सम्पन्न हैं। आजकल के ख्यातिप्राप्त साहित्यकार प्रायः पत्र नहीं लिखते, यहाँतक कि पत्रों के उत्तर देने में भी अभिरुचि नहीं लेते। इस प्रकार के साहित्यकार प्रायः साहित्य-निर्माता होते हैं, साहित्यकार-निर्माता नहीं। पत्रों के आदान-प्रदान में वे ही साहित्यकार रुचि रखते हैं, जिनमें साहित्यकारों के निर्माण की बलवती आकांक्षा उद्ग्रीव रहती है।

इस सम्बन्ध में, दिवंगत हिन्दी-मनीषियों में **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, कथाकार प्रेमचन्द, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पं० सूर्यनारायण व्यास, कथाकार रामवृक्ष बेनीपुरी, आचार्य शिवपूजन सहाय, डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव', डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर** आदि तथा जीवितों में मुख्यतया **पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, बाबू वृन्दावनदास** आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन महानुभावों के पत्र साहित्यिक तथ्यों के उद्भावक तो हैं ही, साहित्यकारों के लिए प्रेरक-प्रोत्साहक विषय-सामग्री के विचार से भी महत्त्वपूर्ण हैं। तात्त्विक शोध की दृष्टि से साहित्यिक पत्रों के संकलन-सम्पादन के कार्य का विशिष्ट मूल्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर शोध-संस्थानों और विश्वविद्यालयों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट होना चाहिए। पत्र-साहित्य के संकलन-सम्पादन का कार्य अबतक प्रायः व्यक्तिगत तौर पर ही होता आ रहा है, किन्तु अब यह कार्य विभिन्न शोध-साहित्यिक संस्थानों के माध्यम से भी होना चाहिए।

साहित्यिक और सामाजिक जीवन में पत्राचार का मनोवैज्ञानिक महत्त्व है, जिसका सम्बन्ध मानव के व्यक्तित्व-विकास से जुड़ा हुआ है। साहित्य-क्षेत्र के दिङ्निर्देशक-तुल्य वरिष्ठ साहित्यकारों के पत्रों के प्रकाश में न आने से हिन्दी-साहित्य की अपूरणीय क्षति हो रही है। इस ओर सारस्वत सतर्कता के अभाव में बहुत सारे पत्र-रत्न विनष्ट होते जा रहे हैं, परिणामतः साहित्येतिहास की महार्घ परम्परा ही विच्छिन्न हो रही है!

हार्दिक प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी की नई पीढ़ी के उत्साही साहित्यकार **श्रीरमण शाण्डिल्य** ने व्रजसाहित्य-मण्डल (मथुरा) के अध्यक्ष **बाबू वृन्दावनदास** के द्वारा सत्तर से अधिक साहित्यिकों को लिखे गये लगभग पाँच सौ पत्रों का पुस्तकाकार संकलन 'बाबू वृन्दावनदास के पत्र' नाम से सम्पादित किया है, जो गत १ जनवरी (सन् १९७८ ई०) को, साहित्य-प्रकाशन, नई सड़क, मालीवाड़ा, दिल्ली-६ से प्रकाशित हुआ है। पच्चीस रुपये में प्राप्य यह पत्र-संकलन 'समकालीन इतिहास का मूल्यवान् दस्तावेज' है। **बाबू वृन्दावनदासजी** का जीवन जनपदीय भाषाओं के उन्नयन में समर्पित है। वे व्यक्ति से अधिक संस्थाकल्प होने का गौरव वहन करते हैं। यथासंकलित विभिन्नविषयक पत्र उनके लेखक, सम्पादक तथा जनपदीय भाषा और साहित्य के महान् संरक्षक के दायित्व-बोध से संवलित व्यक्तित्व की विराट् झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार, इन पत्रों द्वारा उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व के उद्भावन के व्याज से हिन्दी-साहित्य के ही विविध आयामों का प्रतिबिम्बन हुआ है, जिससे, निस्संशय, हिन्दी-साहित्य के इतिहास के अधीतियों को एक नई दृष्टि प्राप्त होगी। इस महत्कृति के द्वारा हिन्दी-पत्रसाहित्य की समृद्धि की दिशा में किया गया **श्रीशाण्डिल्य** का साधना-सघन प्रयास, निश्चय ही वरेण्य, अतएव अभिनन्दनीय है।

□ **सूरिदेव**

o

आन्तर भारती सारस्वत पीठ : हिन्दी का विकास-द्वीप

दक्षिण भारत में हिन्दी के विकास-विस्तार के प्रति सहज आग्रह की जो उत्साह-जनक लहर फैल रही है, वह उत्तर भारत के हिन्दी-क्षेत्र की विकासात्मक शिथिलता के लिए एक चुनौती है। सम्प्रति, दक्षिण में योजनाबद्ध रूप से हिन्दी की बहुकोणीय अभिवृद्धि के निमित्त स्पृहणीय प्रयास हो रहा है। इस सन्दर्भ में, मैसूर-विश्वविद्यालय के अन्तर्गत, 'आन्तर भारती सारस्वत पीठ' के नाम से विश्वविद्यालय के हिन्दी एवं शोध-अध्ययन-विभागाध्यक्ष **डॉ० मे० राजेश्वरैया** के प्रधानमन्त्रित्व में संचालित 'पत्राचार-पाठ्यक्रम-संस्थान' की विशिष्ट योजना का उल्लेखनीय महत्त्व है। विश्व-विद्यालय के कुलपति इस पीठ के पदेन अध्यक्ष हैं और इसके प्रशासनिक कार्यभार की देखरेख विश्वविद्यालय के ही निदेशक करते हैं। प्रशिक्षणप्राप्त व्यक्तियों को विश्वविद्यालय की ओर से प्रमाणपत्र दिया जाता है।

उक्त पीठ का महार्घ उद्देश्य है—हिन्दी के माध्यम से कन्नड-भाषा की शिक्षा देना तथा हिन्दी को सक्षम माध्यम तथा समर्थ सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित करना। इसके अतिरिक्त भी लाभ के अनेक आयाम हैं : इस पीठ में कन्नड-प्रशिक्षित उत्तर भारत के व्यक्ति दक्षिण भारत के कन्नड-क्षेत्र में या कन्नड-संस्थाओं में, जहाँ कन्नड-भाषा का ज्ञान अपेक्षित है, सहज ही आजीविका प्राप्त करने की पात्रता से सम्पन्न हो सकते हैं। साथ ही, इस भाषिक शिक्षण के विनिमय से भाषिक भिन्नता की दीवारें भी टूटेंगी और दक्षिण-उत्तर के परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्ध को ततोऽधिक दृढता और विस्तृत परिवेश प्राप्त होगा।

प्रस्तुत पीठ की सामान्य योजना भाषिक प्रशिक्षण तो है ही, इसकी एक बृहद् योजना भी है : देवनागरी-लिपि में अनुवाद के माध्यम से कन्नड और हिन्दी-साहित्य का परस्पर विनिमय, जिसकी सांगता के लिए इस पीठ की ओर से आयोजित द्वैभाषिक और बहुभाषिक अनुवादक तैयार करने का कार्यक्रम भी नितरां श्लाघ्य है। बीस लाख रुपये की प्रस्तावित व्यय-राशि के कठिन भार-वहन के दृढ संकल्प के साथ सतत गतिशील इस सारस्वत पीठ की उल्लेख्य विशेषता है कि यह आत्मनिर्भरता की ओर उन्मुख है। जनसहयोग की शक्ति राजकीय सहयोग की शक्ति से अधिक सुदृढ होती है और प्रसन्नता है कि यह पीठ अधिकांशतः जनशक्ति की सुलभता के सौभाग्य से संवर्द्धित है।

इस प्रकार, भारतीय भाषाओं और साहित्य की सम्मिलित प्रगति और विकास के अधिष्ठानभूत इस सारस्वत पीठ का, भाषिक एकता के विस्तार के सन्दर्भ में राष्ट्रीय ही नहीं, वरन् अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व है। भारतीय भाषा और साहित्य के व्यापक समन्वय द्वारा भावात्मक एकता को बद्धमूल करनेवाले इस संस्थान की सामान्य योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण और परीक्षाविषयक व्यावहारिक नियमावली (प्रवेश-नियम, प्रशिक्षण-पाठ्यक्रम, प्रशिक्षण-सत्र, प्रशिक्षण-विधि, परीक्षा-प्रणाली, शुल्क आदि) के साथ ही अनुवाद-विषयक बृहद् योजना की विस्तृत जानकारी के लिए इच्छुक व्यक्ति संस्थान के सहृदय और विद्वान् प्रधानमन्त्री **डॉ० मे० राजेश्वरैया** से पत्र-सम्पर्क स्थापित कर लाभान्वित हो सकते हैं।

उत्तर भारत के हिन्दीभाषी, हिन्दी के विकासद्वीप-सदृश 'आन्तर भारती सारस्वत पीठ' की प्रस्तुत नितान्त उपयोगी योजना की सक्रियता के साथ समगति होकर कन्नड के विशेषज्ञ बन सकते हैं। आशा है, इस प्रकार की अतिशय महत्त्व की योजना के अनुकरणीय एवं आदर्शपूर्ण संचालन-कार्य से अनुप्राणित होकर तमिल, तेलुगु और मलयालम-क्षेत्र के विश्वविद्यालय भी अवश्य ही इसे अपनी इतिकर्त्तव्यता के रूप में ग्रहण करने के निमित्त अनुप्रेरित होंगे।

□ **सूरिदेव**

o

[शेष पृष्ठ १४५ पर

पुण्यश्लोक महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

आविर्भाव : ७ सितम्बर, १८८७ ई० तिरोभाव : १२ जून, १९७६ ई०

महाप्राज्ञ कविराजजी*

☐ पण्डितराज श्रीराजेश्वर शास्त्री द्रविड

कैलासवासी पद्मभूषण **महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज** मेरे परम-शिवावतार परमपूज्य गुरु स्व० महामहोपाध्याय न्यायाचार्य **पं० श्रीवामाचरणजी** के शिष्य थे। कविराजजी की धारणाशक्ति अतिशय अद्भुत थी। जब ये काशी के राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय) के 'सरस्वती-भवन-पुस्तकालय' के अध्यक्ष थे, इन्होंने उस पुस्तकालय के मुद्रित और हस्तलिखित लगभग एक लाख ग्रन्थों को अक्षरशः पढ़ा था और उनका सार इन्हें जीवन के अन्त तक याद था। उससे ये अनेक लोगों का उपकार करते रहते थे। हमारे पूज्य गुरुजी भी इनकी धारणाशक्ति और स्मरण-शक्ति की प्रशंसा बराबर करते रहते थे।

योगियों, भक्तों और तान्त्रिकों की संगति में कविराजजी की गहरी रुचि थी। इसीलिए, इन्होंने अन्त में वैराग्य ले लिया और **माँ आनन्दमयी** के आश्रम में रहने लगे थे। यह सुविदित ही है कि इसी मठ में इन्हें शिव-सायुज्य भी प्राप्त हुआ। राजकीय संस्कृत-महाविद्यालय के प्रिंसिपल **डॉ० एम्० ए० वेनिस** महोदय के समय पालि-भाषा, प्राचीन न्याय तथा प्राचीन व्याकरण के ग्रन्थों का जो अनुसन्धान और प्रकाशन हुआ था, उसे इन्होंने ही सम्पन्न किया था।

कविराजजी के परम उपास्य गुरु थे **स्व० श्रीविशुद्धानन्दजी**। वे सौर ऊर्जा-शक्ति के ज्ञाता थे और केवल ऊर्जा-शक्ति की सहायता से पुष्प आदि अद्भुत वस्तुएँ सहज ही अपनी मुट्ठी में दिखलाया करते थे। यह सब सुनकर मेरे गुरु **श्रीवामाचरणजी** भी तान्त्रिक चमत्कार देखने को इच्छुक हुए और **स्वामी विशुद्धानन्दजी** के पास गये। वे तो चमत्कार देखकर लौट आये, परन्तु **पं० गोपीनाथ कविराजजी** वहीं रमे रहे।

मेरे गुरुजी ने अध्ययन तो किया था सभी शास्त्रों का; परन्तु न्यायशास्त्र का विशेष अभ्यास किया था और उसे उन्होंने कण्ठस्थ करके अपने अन्तर्हृदय में सुरक्षित कर लिया था। किन्तु, उनके निकट, प्रामाण्यवाद-गदाधरी के पाठ के समय मीमांसकों के मत का ठीक से विश्लेषण करने में मुझे कठिनाई प्रतीत होती थी। उन दिनों काशी में मेरे अभीप्सित विषय नव्यन्याय की जटिल-ग्रन्थिल तार्किक भाषा में मीमांसाशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करना बहुत ही कठिन था। अतः, स्वभावतः मेरी भी इच्छा हुई कि इसके लिए कविराजजी के दर्शन किये जायँ और उनसे पूछा जाय, यदि कोई वैसा ग्रन्थ हो, जिसमें मीमांसाशास्त्र को नव्यन्याय की भाषा में समझाया गया हो।

---

* **प्रस्तुत लेख, मूल संस्कृत से हिन्दी में, प्राच्यविद्या के प्रसिद्ध अधीती लेखक डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा अनूदित है।—सं०**

मैंने उस समय तक कविराजजी के दर्शन भी नहीं किये थे। मैं उनके पास गया और 'सरस्वती-भवन' में उनके दर्शन किये तथा पूछा कि वैसा कोई ग्रन्थ इस पुस्तकालय में है या नहीं। उन्होंने उसी क्षण, विना कुछ कहे, कांची से मुद्रित **खण्डदेव**-विरचित 'भाट्ट-रहस्य' नामक ग्रन्थ मेरे हाथ में रख दिया और कहा, 'इसे देखिए।' मैंने उसी पुस्तकालय के एक कोने में बैठकर वह ग्रन्थ उलटा-पलटा। कविराजजी से ही पहली बार मैंने जाना कि **खण्डदेव** ने नव्यन्याय-भाषा में मीमांसा-विषयक ग्रन्थ लिखा है। यह उनका मुझपर महान् उपकार था। बाद में 'मीमांसाकौस्तुभ' और 'भाट्टदीपिका' तथा 'शम्भुभट्टी' ग्रन्थ मिले। तत्पश्चात् 'विवीतान्तभाट्टदीपिका' के दो अध्यायों की **भास्कर राय**-रचित 'भाट्ट-चन्द्रोदयटीका' भी प्राप्त हुई।

मीमांसा-प्रसूत वर्णाश्रमधर्म की ग्लानि देखकर खिन्न, पूज्य पिताजी की देखरेख में मुझे चलना था, जिसका उद्देश्य था 'सनातनधर्मप्रदीप' नामक ग्रन्थ का निर्माण तथा 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ' का संचालन। इसी प्रसंग में मुझे उस नीतिशास्त्र की भी आवश्यकता पड़ी, जो ऐसी नीति का प्रतिपादन करता हो, जिसका स्वरूप ऐसे कर्म का अनुष्ठान हो, जिसके द्वारा अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त हो। इसका निर्णय प्रत्यक्ष, परोक्ष (आगम आदि) तथा अनुमान इन तीनों प्रमाणों द्वारा किया जाता है; किन्तु यह जो शास्त्र है, जैसा कि **दण्डी** ने कहा है, इसका सम्बन्ध अन्य सभी शास्त्रों से है, अतः सम्पूर्ण वाङ्मय को पढ़े विना इसे ठीक से नहीं जाना जा सकता। इतना होने पर भी जितने साधन तबतक उपलब्ध थे, उन्हीं के सहारे राजनीति के अध्यायों को खोलना और उनका पढ़ाना आवश्यक हो गया। चमत्कार यह हुआ कि कविराजजी, मेरे गुरुचरणों की कृपा से, मेरा अनुमोदन विद्वत्परिषद् द्वारा संचालित 'ब्राह्मण-महासम्मेलन', 'वर्णाश्रम-स्वराज्य-संघ' आदि के प्रायः सभी अनुष्ठानों में करते रहे। भारतीय राजनीतिशास्त्र के स्वरूप-निर्धारण में प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करता है, साहित्यशास्त्र। वह भी इस कार्य में आवश्यक जान पड़ा। इस शास्त्र में 'प्रत्यभिज्ञा-दर्शन' का यह सिद्धान्त भी नितान्त विचारणीय हो गया :

१. इस (काव्य)शास्त्र से वे ही स्वात्मा (काव्यरस) का उपभोग कर सकते हैं, जिन्हें मीमांसा, न्याय तथा व्याकरणशास्त्र के सम्यक् ज्ञान द्वारा आगमों का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो, उस एक (पर) तत्त्व को छोड़कर शस्य की पुष्टि के लिए अपेक्षित भौम और जलीय रसों का संयोजन करने में अन्य कौन समर्थ हो सकता है?

२. भाँति-भाँति के दूती-सम्प्रेषण आदि उपायों और प्रणय-वचनों द्वारा पास में आकर खड़ा प्रिय भी जैसे पहचान न होने से विरहव्याकुला नायिका द्वारा अपनाया नहीं जाता, वैसे ही यह जीवात्मा भी, ईश्वर का अपना स्वरूप होने पर भी, इसकी महिमा के परिचय के अभाव में, अपने वैभव को प्रकट नहीं कर पाता। इस विडम्बना को दूर करने के लिए ही 'प्रत्यभिज्ञा' (पहचान) नाम से यह दर्शन प्रस्तुत किया गया है।—**उत्पलदेव**

यह प्रत्यभिज्ञाशास्त्र इस देश के किसी प्रदेश में छिपा पड़ा था। मेरे छात्रकाल में सामाजिक रंगभूमि पर इस शास्त्र की अवतारणा केवल कविराजजी की ही कृपा से हुई थी।

एतदर्थ मैं इनका चिरऋणी हूँ। काशिराज महाराज **विभूतिनारायण सिंहजी** की प्रेरणा से मुझे **डॉ० हाजरा** के लेख पर विचार करना था। यह विषय मेरे लिए अत्यन्त दुरूह था। डॉ० हाजरा ने नवद्वीप के **राजा वक्तालसेन**-कृत 'दानसागर' की सहायता से 'विष्णुधर्मोत्तर-पुराण' आदि को अप्रामाणिक बतलाया था और तर्क दिया था कि पुराण के पाँच लक्षण उनमें नहीं थे। वक्तालसेन ने भी अपने 'दानसागर' में इन पुराणों के विषय में सन्देह व्यक्त किया था। इसमें भी कारण था 'अमरकोश' का यह वचन कि पुराण उसे कहते हैं, जिसमें पाँच विषय रहें : **'पुराणं पञ्चलक्षणम्'** (अमरकोश, १।६।५)। उन दिनों इसकी व्याख्या में पाँच विषय ये माने जाते थे—सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित, और इसके लिए श्लोक प्रचलित है :

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

किन्तु, कौटिलीय अर्थशास्त्र की 'जयमंगला' टीका में मुझे पुराणों के पाँच विषय और ही मिले, वे ये हैं :

सृष्टिप्रवृत्तिसंहारधर्ममोक्षप्रयोजनम्।
ब्रह्मभिर्विविधैः प्रोक्तं पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

सृष्टि की प्रवृत्ति, सृष्टि का संहार, धर्म, मोक्ष और प्रयोजन—इन पाँचों विषयों का प्रतिपादन अनेक वेदवाक्यों द्वारा और उनके वेत्ता ब्रह्मर्षियों द्वारा किया गया है। जय-मंगलाकार का अन्य भी एक वाक्य है कि 'इस समय शास्त्रवेत्ता विद्वान् अनीति पर आरूढ होने के कारण इन्हें (बौद्धों को) भगा रहे हैं।' इससे सिद्ध होता है कि 'जयमंगला' उस समय बनी, जिस समय मुसलमान बने बौद्धों को भारतवर्ष से भगाया जा रहा था। व्याकरण-महाभाष्य में भी वाक्य आया है : 'हम पुष्यमित्र से यज्ञ करवा रहे हैं।' इससे सिद्ध होता है कि महाभाष्य पुष्यमित्र के समय का है। कविराजजी ने महाभाष्य के वाक्य के आधार पर उसके काल-निर्धारण के ही समान 'जयमंगला' में उल्लिखित उक्त वाक्य के आधार पर 'जयमंगला' के समय-निर्धारण का पूर्ण समर्थन किया। उनके प्रोत्साहन पर मैंने 'पुराण-पत्रिका' में, जो काशिराज-न्यास से प्रकाशित होती है, यह लिखा कि वस्तुतः पुराणों के विषय में **वक्तालसेन** ही भ्रम में थे।

कविराजजी हमारे पूजनीय गुरुजी द्वारा चलाई गई 'शास्त्ररक्षा-समिति' की कार्य-कारिणी के भी सदस्य थे। उस रूप में उन्होंने जो उपकार किया, वह मेरे लिए अविस्मरणीय है।

□ द्वारा : पालि-विभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ० प्र०)

कविराजजी का जीवन-दर्शन

☐ डॉ० जगन्नाथ उपाध्याय

कविराजजी से यदि यह पूछा जाता कि आपका दर्शन क्या है, तो अवश्य ही उनका यह दावा नहीं होता कि उन्होंने अपना कोई दर्शन बनाया है। इस उत्तर के पीछे उनकी निरहंकार वृत्ति और अगाध ज्ञानराशि का दबाव रहता। किन्तु, सामान्य चिन्तनशील व्यक्ति का भी ज्ञात या अज्ञात रूप में एक जीवन-दर्शन बन ही जाता है, चाहे उसके पीछे मौलिकता एवं विश्लेषण की सूक्ष्मता की मात्रा जो कुछ हो। फिर, कविराजजी की किसी से क्या तुलना! कविराजजी ज्ञान के समुद्र थे। उस तट पर खड़ा होकर जिसने उनके ज्ञान के ज्वार को देखा था और उसकी हिलोरें ली थीं, उस सौभाग्यशाली व्यक्ति को इसका निर्णय लेने में तनिक भी देर नहीं लगनी चाहिए कि उनकी सारी विद्या उनके जीवन की तरंग बन चुकी थी। ज्ञान को जीवन के इतना समीप ले जाना, वास्तविक अर्थ में उसमें तन्मय हो जाना, तभी सम्भव होगा, जब उस व्यक्ति ने अपने जीवन-दर्पण पर सम्पूर्ण ज्ञान को प्रतिबिम्बित कर लिया हो और अपनी क्रान्तदर्शिता से एक सशक्त जीवन-दर्शन बना लिया हो।

दर्शन प्रारम्भ होता है विश्लेषण और प्रविचय (चयन की प्रक्रिया) से। प्रारम्भ में ही विचारों में से कुछ को चुनना और फिर उनके बीच कुछ की श्रेष्ठता का निर्णय करना, यही दर्शन बनने की सहज प्रक्रिया है। एक तेजस्वी चिन्तक इसका निर्णय केवल परम्परागत मान्यताओं या केवल शास्त्रीय युक्तियों के आधार पर नहीं कर सकता। उसके पीछे जीवन और जगत् की व्यष्टि और समष्टि की जो नई आकांक्षाएँ और बुभुत्साएँ अपने समाधान के लिए उन्मुख रहती हैं, वे तत्त्व-चिन्तन को नये आयाम, नये चयन एवं नये विश्लेषण के लिए प्रेरित करती हैं। चिन्तन की परिपक्वता के अनुपात में और उसे दूसरों तक सम्प्रेषित करने की मानवी अभिलाषा में वह नव-चिन्तन अपनी सम्पूर्ण सुसंगतियों और गम्भीरताओं-समेत एक दर्शन-प्रस्थान का रूप ग्रहण कर लेता है। यह ठीक है कि कविराजजी का भी जीवन और अध्ययन परम्परावाद और शास्त्रीयता से ही प्रारम्भ हुआ था, किन्तु आगे चलकर उनके लिए वह पर्याप्त नहीं रहा। उसके अतीत में जाकर उन्होंने उन विचारों का चयन किया और उसके आधार पर अपना नया जीवन-दर्शन बनाया, जिसकी खोज उन्हें अपने प्रारम्भिक जीवन में ही थी। इसके लिए उन्हें परम्परा से विद्रोह करने की आवश्यकता नहीं थी, अपितु नये सन्दर्भ में परम्परा

की नई व्याख्या एवं विश्लेषण कर देना-मात्र पर्याप्त था। विद्रोह किये बिना दर्शन बनाने की इस भारतीय परम्परा को वे बहुत ही महत्त्व देते थे।

कविराजजी की प्रेरणाओं का एक सशक्त स्रोत था, पुनर्जागरण-काल की सांस्कृतिक चेतना, जिसके पीछे शतियों तक भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति के पराहत होने की मार्मिक वेदना थी। उस युग में, इसकी प्रतिक्रिया में, एक ओर चिन्तन के क्षेत्र में तथा दूसरी ओर सामाजिक और राजनीतिक प्रांगण में उथल-पुथल मची थी। उस समय के तत्त्वचिन्तकों का प्रधान लक्षण था भारतीयता की तीव्र जिज्ञासा, प्राचीन ज्ञान की नई व्याख्या, भारतीय संस्कृति में निहित उदारता एवं विशालता का प्रकटीकरण और राष्ट्र में नई शक्ति का जागरण। इस तथ्य की ओर लोगों का अपेक्षित ध्यान नहीं गया है कि उनपर नये युग की चेतनाओं का बहुत ही सजीव स्पर्श रहा है। विद्यार्थी-जीवन से ही कविराजजी का सम्पर्क तत्कालीन केवल क्रान्तिकारी विचारों से ही नहीं, प्रत्यक्षतः क्रान्तिकारी युवाशक्तियों से भी था। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी एवं तत्त्वचिन्तक **श्रीशचीन्द्रनाथ सान्याल** तथा भारतीय समाजवाद के आदिपुरस्कर्त्ता **आचार्य नरेन्द्रदेव** जैसे लोग उनके घनिष्ठ मित्र थे। कुछ दिनों तक बंगाल से प्रकाशित गुप्त क्रान्तिकारी साहित्य के मिलने का केन्द्र हो चुकी थी—क्वींस कॉलेज के छात्रावास में अवस्थित कविराजजी की कोठरी। उनके इस इतिहास को उजागर करना इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना उनके विचारों का प्रारम्भिक उत्स, उनकी अग्रिम दिशा और अन्तिम परिणति की पृष्ठभूमि में व्याप्त उस अन्तर्वर्चस्व का ज्ञान नहीं हो सकेगा, जिसमें तत्कालीन सांस्कृतिक चेतना एवं बौद्धिक जागरण का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

कविराजजी से यदि पूछा जाता कि उनके दर्शन को अध्यात्मवाद, मोक्षवाद, ब्रह्मवाद, मायावाद, ईश्वरवाद, आस्तिकवाद आदि प्रचलित दार्शनिक शब्दों से समझा जाय, तो उन्हें कथमपि सन्तोष न होता, और शीघ्र न समाप्त होनेवाले अपने तूफानी प्रवचनों से उन्हें यह समझाना पड़ता कि ये सभी शब्द अपूर्णता एवं खण्डता के बोधक हैं, जब कि जीवन और दर्शन अखण्ड एवं पूर्ण हैं। वह अखण्डता और विशालता, जो इन शब्दों से व्याख्यात नहीं हो सकती, उसका भारतीय चिन्तन और संस्कृति से योग कर देना कविराजजी के चिन्तन की प्रमुख दिशा है।

पिछली शतियों में भारतीय जीवन के अवसाद का कारण सिर्फ राजनीतिक पराधीनता नहीं थी, अपितु समग्र भारतीय चिन्तन पर पाश्चात्य विद्वानों का वह वैचारिक आक्रमण था, जिसके द्वारा यह सिद्ध करने की भरपूर चेष्टा की जा रही थी कि सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन का प्रधान स्वर है दुःखवाद, मायावाद तथा संसार एवं समाज से वैराग्य एवं पलायन। इसी प्रकार, भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रमुख लक्षण थे—करोड़ों शूद्रों और नारियों का तिरस्कार, जातियों की व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँच-नीच की अनगिनत मान्यताएँ और परस्पर असामाजिक एवं बर्बर व्यवहार। कविराजजी की तीव्र जिज्ञासावृत्ति और उनकी विद्याव्यसनिता का स्वाभाविक प्रतिफलन था कि वे चिन्तन एवं मनन के

क्षेत्र में रहकर युग की इस चुनौती को स्वीकार करते। इस चुनौती का उत्तर कविराजजी ने जिस गहराई से दिया है, उसे उनके अंगीकृत जीवन-दर्शन और सांस्कृतिक व्याख्या में स्पष्ट देखा जा सकता है। उनके दर्शन में जगत् असत्य मिथ्या या माया नहीं है, बल्कि सारी सृष्टि एक तात्त्विक विलास है। मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं, अपितु भोग और मोक्ष का समन्वय ही परम पुरुषार्थ है। संसार दुःखमय नहीं, अपितु उसकी पृष्ठभूमि में आनन्द की तरंग उच्छलित है। संसार से पलायन या वैराग्य आवश्यक नहीं, अपितु महाराग की उदारभूमि पर रहकर लोकसेवा ही काम्य है। मनुष्य की अवहेलना या अपकर्ष उचित नहीं, अपितु उसमें सहज स्वातन्त्र्य और अबाधित विकास की शक्ति का अन्वेषण अपेक्षित है। संक्षेप में, कविराजजी की ये मान्यताएँ उनके दर्शन के मूल उपादान हैं, जो प्राचीन भारतीय दर्शनों—शैव शाक्त और बौद्ध तान्त्रिक दर्शनों से बहुत कुछ मिलती हैं। अपने जीवन में कविराजजी ने भारतीय दर्शनों का जो प्रभावशाली अध्ययन किया, उसके विकास-क्रम से भी उनके जीवन-दर्शन का स्पष्टीकरण हो जाता है। वास्तव में, यह उनकी जिज्ञासा और समाधान का क्रम है। वह क्रम है वैशेषिक एवं न्याय, सांख्य, योग, वेदान्त, बौद्धदर्शन और विविध आगम तथा तन्त्र। इस प्रकार, उनके जीवन के उत्तरार्द्ध पर बौद्धदर्शन एवं तन्त्रों की गहरी छाप देखी जा सकती है। इस विचारयात्रा की परिणति में ही कविराजजी का दर्शन ढूँढ़ना होगा।

कविराजजी को सामान्यतः अध्यात्मवादी दार्शनिक समझा जाता है। इसे स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए; क्योंकि उनके चिन्तन की प्रवृत्ति है समस्त खण्डों को एक अखण्डता में समाविष्ट करना। किसी सिद्धान्त को विश्वजनीन सन्दर्भ देने के लिए भारतीय चिन्तन की एक सशक्त प्रवृत्ति रही है—अधिभूत और अधिदैव से उठकर अध्यात्मभूमि में उसे प्रतिष्ठित करना। कविराजजी इसी पद्धति के समर्थक थे। कविराजजी मानव-स्वातन्त्र्य को एक तथ्य के रूप में स्वीकार करते हैं। उसे भौतिकता से ऊपर उठाकर अध्यात्म की भूमिका पर ले जाते हैं, वहाँ उसे अखण्डता और सार्वभौम व्यापकता प्रदान करते हैं, जो उनके शब्दों में 'अखण्डमहायोग' है। इस रहस्यवाद को वह स्वयं भी अस्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार, चिन्तन के क्षेत्र में उसी प्रकार अनन्त रहस्य पड़े हुए हैं, जैसे विज्ञान के क्षेत्र में। उनका विश्वास था कि आगे चलकर उन सबका प्रकाशीकरण होगा। सभी दर्शन और साधनाओं का मध्यबिन्दु मानव को स्वीकार कर वह कहते हैं कि 'मनुष्य केवल विश्व-रूप ही हो, ऐसी बात नहीं है। वह तो विश्व से भी अतीत है। मनुष्य विश्व भी है और विश्वातीत विशुद्ध प्रकाश-स्वरूप भी है। एक साथ ही दोनों है। इस कारण पूर्णत्व की अभिव्यक्ति मनुष्य में ही सम्भव है।' (भा० सं० और साधना, प्र०ख०, पृ० २०) मनुष्य का यह स्वरूप निर्गुण और निष्क्रिय नहीं है। इसमें उन गुणों का आविष्कार होता है, जिसके बल पर उसके द्वारा जगत्कृत्य का सम्पादन हो सके। कविराजजी के अनुसार, एक अवस्था-विशेष में, मनुष्य में करुणा-शक्ति का उद्बोधन होता है, जिसके बल पर वह जगत् की सेवा तथा जीव के

उद्धार-कार्य में लग जाता है। इस अवस्था में वह विश्वगुरु या उसका प्रतिनिधि बन जाता है। कविराजजी सेवा का लक्ष्य निर्धारित करते हैं—दुःख-निवृत्ति। वह एक ऐसे आदर्श मनुष्य की कल्पना करते हैं, जिसमें प्रतिदान की अपेक्षा किये बिना पर-दुखःप्रहाणेच्छा हो और सहज रूप से वह अनवरत जीव-सेवा में निरत रहे। किसी भी दशा में वे मानव-व्यक्तित्व को तुच्छ या हीन स्वीकार करने के पक्ष में नहीं हैं। इसके लिए वे मनुष्य को 'अहम्भाव' की अपेक्षा 'पूर्णाहन्तृत्व' प्रदान करने के पक्ष में हैं।

मनुष्य की प्रसुप्त शक्ति का जागरण करना ही सम्पूर्ण साधनाओं का लक्ष्य है। इसपर कविराजजी अपने समसामयिक अन्य सभी तत्त्वचिन्तकों से अधिक जोर देते हैं। शक्ति के सम्बन्ध में उन्हें जडवाद और मायावाद की मान्यताएँ ग्राह्य नहीं थीं। उन्हें न्याय-वैशेषिक आदि के समान जडशक्तिवाद पर और वेदान्त के समान मायावादी शक्तिवाद पर आस्था नहीं थी। उनकी दृष्टि में शक्ति स्वातन्त्र्य है, जिसका क्षेत्र ज्ञान, इच्छा और क्रिया है। वह चैतन्य और नवनवोन्मेषशालिनी है। यही कारण है कि शाक्तदर्शन की तरह वे भी मानव-स्वातन्त्र्य को रहस्यवाद से जोड़कर उसे पूर्णता प्रदान करते हैं। फलतः, कविराजजी कहते हैं : "यह चित्-शक्ति मनुष्य-देह में अत्यन्त आन्तरिक शक्ति के रूप में विराजमान है। चित् की ही अपने में अभिमुख विश्रान्ति आनन्द है। स्वातन्त्र्य से जैसे चित् आनन्द-रूप में परिणत हो जाती है, वैसे आनन्द बहिर्मुख होने पर क्रमशः इच्छा, ज्ञान और सर्वान्त में क्रिया—रूप में परिणत हो जाता है।" (भा० सं० और सा०, प्र० ख०, पृ० १७)

कविराजजी के अनुसार, मनुष्यत्व का पूर्ण विकास भारतवर्ष में ही हो सकता है। मनुष्य की प्रसुप्त शक्तियों के विकास के लिए यही योग्य क्षेत्र है। यहाँ जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, जगत् के और किसी देश में उसकी उपमा नहीं है। किसी भी देश की सांस्कृतिक गम्भीरता, व्यापकता, विरोध-समन्वय-सामर्थ्य और सर्वतोमुख विकास का विषय भारतीय संस्कृति के साथ तुलना-योग्य नहीं प्रतीत होता। कविराजजी कहते हैं कि 'भारतीय संस्कृति को अखण्ड सत्य का पता है। इसी से यह खण्ड सत्य का भी आदर कर सकती है।'

कविराजजी का कहना था कि धर्म, दर्शन और संस्कृतियों के बीच भेदों के दर्शन का युग समाप्त हो चुका। अब तो भेदों में अभेद देखना यही मानव की सांस्कृतिक प्रेरणाएँ हैं। कविराजजी के अनुसार, अब सम्पूर्ण अध्ययन एवं शिक्षण का लक्ष्य होना चाहिए—सांस्कृतिक अभेद का विकास। उन्हें इस बात से बड़ी खिन्नता रहती थी कि आज भी इस ओर विद्वज्जन का अपेक्षित ध्यान नहीं जा रहा है। वे कहते हैं : "यदि किसी दिन भारतीय संस्कृति की ऐतिहासिक क्रमधारा के अन्तराल में रहनेवाले तत्त्वों का विश्लेषण सम्पन्न होगा, तो इस संस्कृति की महिमा प्रस्फुटित होगी। अत्यन्त खेद की बात है कि वर्त्तमान समय में भारतीय संस्कृति के स्वरूप का पर्यालोचन करने के लिए विद्वज्जन यथोचित प्रयत्न नहीं कर रहे हैं।" (भा० सं० और स०, प्र० ख०, पृ० २११)

संस्कृति की इसी सार्वभौम पृष्ठभूमि में कविराजजी बड़े ही सहज रूप में भारतीय संस्कृति को विश्व-संस्कृति से तथा अपनी मानववादी दृष्टि को अखण्ड तत्त्व से जोड़ते हैं। अखण्डता एवं पूर्णता के अवतरण के लिए जिस प्रकार दर्शनों की प्राचीन शब्दावली पर्याप्त नहीं है, उसी प्रकार धर्म, सम्प्रदाय, वर्णाश्रमाचार आदि शब्द भी उस अखण्ड जीवन की विशिष्टताओं का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ नहीं हैं। इसके लिए कविराजजी विराट् सांस्कृतिक चेतना को प्रस्तुत करते हैं। संस्कृति धर्म आदि को तो अपने अन्दर रखती ही है, उससे अधिक का भी संग्रह करती है, जिससे अन्तर्गत तत्त्वों की सीमितता उस सांस्कृतिक विराट् में विलीन हो सके। उनकी दृष्टि में, तन्त्र-संस्कृति में ही वह गरिमा है। मानव-स्वातन्त्र्य एवं अखण्डता के उत्कर्ष तथा विस्तार के लिए जिस विशिष्ट भावभूमि की अपेक्षा है, उसे तन्त्र-संस्कृति प्रस्तुत करती है। कविराजजी के शब्दों में तान्त्रिक अध्यात्म-संस्कृति का लक्ष्य परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त करना है, केवलमात्र स्वर्ग आदि ऊर्ध्वलोक तथा लोकान्तरों में गति या कैवल्य अथवा निरंजनभाव की प्राप्ति अथवा मायातीत अधिकारी पद का लाभ नहीं है। मनुष्यमात्र की आत्मा में इस अवस्था की प्राप्ति की स्वरूप-योग्यता है। यह तान्त्रिक संस्कृति का अवदान तुच्छ नहीं समझा जा सकता है। इसी आधार पर तान्त्रिक संस्कृति की उदात्त घोषणा यह है कि 'मनुष्य के सुप्त रहने से काम नहीं चलेगा, उसे जागना चाहिए—**प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्**।' (तान्त्रिक संस्कृत, तन्त्र-सम्मेलन, सन् १९६५ ई० में प्रकाशित)

☐ **पालि-विभागाध्यक्ष**
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी-२

स्मृति-सूत्रांजलि

विद्याविधु-यौगिक ज्योत्स्ना का संस्कृत-चेता
गुह्य साधना का शब्दाभ दार्शनिक नेता
सारस्वत तप के प्रकाण्ड प्रज्ञात्म-तपस्वी
नमस्कार हे ऊर्ध्वपुरुष कविराज मनस्वी!

☐ **पोद्दार श्रीरामावतार अरुण**
☐ **कवि-निवास**
समस्तीपुर (बिहार)

आगम एवं तन्त्रशास्त्र को कविराजजी की देन

□ पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी

'आगम' और 'तन्त्र' शब्दों की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार और संक्षेप से लिखा गया है। हमें यहाँ केवल इतना ही कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखा-विशेष में रूढ हैं, जो पहले 'आगम' और बाद में 'तन्त्र' शब्द से अभिहित हुए। **प्रो० विण्टरनित्ज**[१] का कहना है कि "ठीक-ठीक कहा जाय, तो 'संहिताएँ' वैष्णवों के, 'आगम' शैवों के तथा 'तन्त्र' शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ हैं।" इसपर इतना ही कहा जा सकता है कि 'आगम' शब्द से जैसे आजकल शैव और वैष्णव दोनों ही तरह के आगम-ग्रन्थों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही 'संहिता' शब्द से केवल वैष्णवागमों का ही बोध नहीं होता। वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त आयुर्वेद, ज्यौतिष, पुराण आदि से सम्बद्ध 'संहिता' नाम से अभिहित होनेवाले ग्रन्थों की एक विशाल राशि विद्यमान है। इसीलिए, आगे वे[२] कहते हैं : "वस्तुतः, इन शब्दों में कोई स्पष्ट भेद करनेवाली रेखा नहीं है और 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग बहुधा इस प्रकार के सम्पूर्ण ग्रन्थों के लिए हुआ है। इन सारे ग्रन्थों की कुछ समान विशेषताएँ हैं। ये पवित्र ग्रन्थ द्विजातियों के लिए ही नहीं, बल्कि शूद्रों और स्त्रियों के लिए भी हैं।"

श्रीचार्ल्स ईलियट ने सन् १९२१ ई० में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में भागवतों और पाशुपतों के प्रकरण में[३] उक्त विषय पर विचार करते हुए लिखा था कि 'तन्त्र, आगम और संहिताओं ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बाँटा था—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या। बौद्धतन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर नाम मिलता है।' यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्रसंहिताएँ ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु विना पाद-विभाग के ये सभी विषय प्रायः सभी तन्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। इस प्रकार, आगम अथवा तन्त्र शब्द से समान प्रकृति और विशेषताओंवाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध होता है।

प्रो० विण्टरनित्ज[४] यद्यपि **ईलियट** की उक्त परिभाषा को मानते हैं और तदनुसार संक्षेप में शैवागमों और पांचरात्रसंहिताओं का परिचय भी देते हैं, तथापि आगे चलकर वे[५] कहते हैं : "पर जब हम तन्त्रों की बात करते हैं, तब हमारा ध्यान शाक्तों के पवित्र ग्रन्थों पर जाता है।" ऐसा कहते समय वे **ईलियट**[६] की इस उक्ति को भूल जाते हैं : "किन्तु मुझे यह पुनः कहना पड़ेगा कि सब मत तान्त्रिक हैं, इसका मतलब यह नहीं कि वे

सब शाक्त हैं। किन्तु, शाक्तमत मूलतः आनुपूर्वी से सिद्धान्त और व्यवहार में विशुद्ध तान्त्रिक है।" इसके बाद इस शास्त्र का परिचय वे उन ग्रन्थों के आधार पर देते हैं, जिनका आविर्भाव-काल नितान्त परवर्त्ती है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "पुराणों और तन्त्रों का अध्ययन कोई आनन्ददायक कार्य नहीं है। यह बात तन्त्रों के बारे में अधिक सही है। ये सारे-के-सारे हीन कोटि के लेखकों की कृतियाँ हैं और प्रायः असंस्कृत और व्याकरण के नियमों से अछूती भाषा में लिखे गये हैं।"[७] तन्त्रशास्त्र पर किये गये इस तरह के आक्षेपों का **भारतरत्न म० म० पी० वी काणे**[८] महोदय ने प्रतिवाद किया है।

किन्तु, भारतरत्न म०म०पी०वी० काणे[९] जब लिखते हैं कि लोग तन्त्रों से तात्पर्य लगाते हैं शक्ति (काली देवी) की पूजा, मुद्राएँ, मन्त्र, मण्डल, पंचमकार, दक्षिणमार्ग, वाममार्ग एवं ऐन्द्रजालिक क्रियाएँ, जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं। इसी तरह से शक्तिवाद और तन्त्रों के उद्भव के विषय में जानकारी देते हुए वे जब कहते हैं कि उन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियों और व्यवहारों (आचारों) को प्रभावित किया,[१०] तब वे तन्त्र शब्द का प्रयोग **विण्टरनित्ज** के इसी संकुचित अर्थ में करते हैं, यद्यपि वे इस प्रसंग में[११] 'जयाख्यसंहिता', 'अहिर्बुध्न्यसंहिता', 'प्रपंचसार', 'शारदातिलक', 'ईशान-शिवगुरुदेवपद्धति' जैसे वैष्णवागम एवं शैवागम के ग्रन्थों को भी प्रमाण-रूप में उद्धृत करते हैं, जो इन शाक्ततन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते।

इसका कारण यह है कि **सर चार्ल्स ईलियट**[१२] की पद्धति पर इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया गया। इसके विपरीत, **सर जॉन वुडरफ**[१३] के ग्रन्थों को इस शास्त्र के अध्ययन में आवश्यकता से अधिक प्रमाण मान लिया गया है। इस विद्वान् के द्वारा तन्त्रशास्त्र की की गई सेवाओं के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए भी हमें कहना पड़ता है कि इनका प्रायः सम्पूर्ण अध्ययन उन ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत हुआ है, जिनका आविर्भाव-काल अपेक्षाकृत परवर्त्ती है। जब **प्रो० विण्टरनित्ज**[१४] कहते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बंगाल में हुआ मालूम पड़ता है, जहाँ से वे असम और नेपाल में गये तथा भारत के बाहर बौद्धधर्म के माध्यम से वे तिब्बत और चीन में भी पहुँचे, तब वे परवर्त्ती काल में आविर्भूत इसी शास्त्र की ओर इंगित करते हैं; क्योंकि यह सही है कि परवर्त्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था। किन्तु, यह वह साहित्य नहीं है, जो कि असम तथा नेपाल में और बौद्धधर्म के माध्यम से तिब्बत तथा चीन में गया। यह निर्यातित ज्ञान **अभिनवगुप्त** के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आविर्भूत हुआ था। इसके विपरीत, परवर्त्ती काल का पूरा साहित्य, इस्लाम के आक्रमण के कारण पूर्ववर्त्ती साहित्य के प्रायः नष्ट हो जाने के बाद नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित तन्त्रों की सहायता से पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इसका मुख्य केन्द्र बंगाल था। जब कुछ विद्वान्[१५] भारतीय तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की बात करते हैं, तब उनकी यह बात इसी परवर्त्ती काल में आविर्भूत शास्त्र पर लागू होती है।

वस्तुस्थिति यह है कि भागवतों (पांचरात्र) और पाशुपतों ने एक ऐसी पूजाविधि का आविष्कार किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास और मुद्रा की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता है। **'देवो भूत्वा देवं यजेत्'** यह उसका सिद्धान्त-वाक्य था। स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को भी इसी विधि से मूर्त्ति, पट, मन्त्र, मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता था और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरिवस्या सम्पादित करता था। बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिए यहाँ व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था और आन्तर वरिवस्या के लिए वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता था। वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिए जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज आगम अथवा तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित है। अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिए इनका अपना दर्शन और यौगिक पद्धति थी और बाह्य वरिवस्या के लिए मन्दिरों और मूर्त्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विशिष्ट विधियाँ इनमें वर्णित हैं। इन्हीं के आधार पर प्रत्येक आगम में विद्या (ज्ञान), योग, क्रिया और चर्या के नाम से चार पादों का विधान था। शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द प्रभृति देवताओं की आराधना इसी पद्धति से होने लगी थी। इन पूर्ववर्त्ती शैव और वैष्णवागमों की तथा परवर्त्ती शाक्त तन्त्रों की उपरिवर्णित आराधना-विधि में कोई अन्तर नहीं है। भारतीय वाङ्मय[१६] में कहीं श्रुति के समकक्ष, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्रों के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है।

इस सम्बन्ध में **ईलियट**[१७] का यह कहना एकदम सही है : 'तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्मग्रन्थ हैं और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं। इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है। तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के, रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, मन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है। इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुँचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास आने के लिए विवश किया जाय। तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है—भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उसको रूपान्तरित करके भगवान् बना देना। मनुष्य विश्वातीत के साथ सम्बन्ध रखते हुए विश्व के साथ भी सम्बद्ध रहता है। यह मानव-शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप है। इस विश्व के छोटे-बड़े सभी अंशों में ये शक्तियाँ समान रूप से कार्यरत हैं।

यह बात आगम और तन्त्र के नाम से अभिहित होनेवाले पूरे साहित्य पर लागू होती है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होनेवाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र नाम से अभिहित होनेवाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि **चार्ल्स ईलियट** जैसे विद्वानों के द्वारा इन दोनों

धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगमशास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है और इसीलिए वे अनेक असंगतियों के शिकार हो गये हैं। वस्तुतः, कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इनसे पहले आगमशास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तर-कालीन भारतीय धार्मिक रीतियों तथा व्यवहारों (आचारों) को भी प्रभावित किया।

प्रसंगवश ही यहाँ तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की चर्चा की गई।

गच्छ त्वं भारते वर्षे अधिकाराय सर्वतः।
पीठोपपीठक्षेत्रेषु कुरु सृष्टिमनेकधा ॥[१८]

इस श्लोक के आधार पर अनेक विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बाह्य उपादानों के आधार पर हुआ। कुछ[१९] विद्वानों ने इस श्लोक को 'कुब्जिकामततन्त्र' का, कुछ[२०] ने 'कुब्जिकामत' का और कुछ[२१] ने 'कुब्जिकातन्त्र' का बताया है। 'कुब्जिकामत'[२२] और 'कुब्जिकातन्त्र' ये दो अलग-अलग ग्रन्थ हैं, किन्तु 'कुब्जिका-मततन्त्र' नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है। परीक्षणीय है कि यह श्लोक 'कुब्जिकातन्त्र' का है या 'कुब्जिकामत' का। अधिक सम्भावना है कि यह श्लोक 'कुब्जिकातन्त्र' से ही उद्धृत किया गया है, जो परवर्त्ती काल की रचना है। 'कुब्जिकामत' छठीं-सातवीं शती की रचना[२३] मानी जाती है। उस समय भारत में पीठ, उपपीठ, क्षेत्र आदि की स्थिति के लिए प्रमाण अपेक्षित हैं। यदि इनकी स्थिति थी, तो उस परिस्थिति में **म० म० पी० वी० काणे**[२४] महोदय का यह कहना उचित ही माना जायगा कि 'पीठों एवं क्षेत्रों की ओर (श्लोक में) जो निर्देश है, वह इस बात की पुष्टि करता है कि उनमें तन्त्र-सिद्धान्त प्रचलित थे।'

डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची[२५] ने तन्त्रों के दो मोटे विभाग किये हैं। शास्त्रानुवर्त्ती (आर्थोडॉक्स) तन्त्रों में उन्होंने आगम, यामल तथा इनसे सम्बद्ध साहित्य को रखा है और शास्त्राननुवर्त्ती (हिटरोडॉक्स) तन्त्रों में कुलाचार, वामाचार, सहजयान और वज्रयान के तन्त्रों को। उनका कहना है कि द्वितीय विभाग के अन्तर्गत आनेवाले तन्त्रों की उत्पत्ति पर विदेशी प्रभाव था। कुब्जिकातन्त्र, चीनाचार, तारातन्त्र और सम्मोहतन्त्र के आधार पर उन्होंने इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः, ये सभी ग्रन्थ परवर्त्ती काल की रचनाएँ हैं; क्योंकि इनकी **अभिनवगुप्त** के पूर्वकालीन उपलब्ध तन्त्रों से कोई समानता नहीं मिलती। यहाँ उद्धृत सम्मोहतन्त्र कम्बुज-शिलालेख[२६] में स्मृत ग्रन्थ नहीं है।[२७] 'जयद्रथयामल' अपेक्षाकृत प्राचीन रचना है। इसके आधार पर डॉ० बागची ने जो कुछ कहा है, वह विचारणीय है। उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आठवीं शती से पहले का भारतीय तन्त्रशास्त्र तिब्बत में प्रविष्ट हो गया था। बाद में परस्पर आदान-प्रदान के माध्यम से परवर्त्ती काल में इनमें स्थानीय तत्त्वों का समावेश होना असम्भव नहीं माना जा सकता। शाक्त तन्त्रों की उत्पत्ति मूलतः भारतीय ही है, इसपर हम आगे विचार करेंगे।

शाक्त तन्त्रों को बौद्ध और हिन्दू-तन्त्रों में विभक्त कर हिन्दू-तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव को **डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य**[२८] ने बड़े विस्तार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। वे बौद्ध महायान-धर्म पर पौराणिक प्रभाव की बात मानते हैं,[२९] जो वस्तुतः पौराणिक न होकर आगमिक (तान्त्रिक) प्रभाव था। इस बात को आगे स्पष्ट किया जायगा।

इन पंक्तियों के लेखक का यह स्पष्ट विचार है कि भारतीय तत्त्वज्ञान के क्रमिक विकास को ब्राह्मण, बौद्ध, जैन, हिन्दू आदि के कल्पित काल-विभागों में बाँटकर किया गया, अध्ययन वस्तुतः अधूरा है। सम्पूर्ण भारतीय चिन्तन के दैशिक और कालिक क्रमिक विकास का तुलनात्मक एवं घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाना चाहिए और ऐसा करते समय ब्राह्मण, बौद्ध, जैन जैसे कल्पित विभाग को सत्य की खोज में बाधक नहीं होना चाहिए। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत न हो पाने से ही भारतीय चिन्तन में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ प्रविष्ट हो गई हैं।

पांचरात्र (भागवत) और पाशुपत मत की प्राचीनता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है। **डॉ० हेमचन्द्र राय चौधुरी**[३०] ने छान्दोग्य उपनिषद् पर भागवत के प्रभाव का अच्छा विश्लेषण किया है। शुक्लयजुर्वेद के शतरुद्रिय अध्याय में तथा कृष्ण-यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में पाशुपत मत की स्पष्ट झलक मिलती है। महाभारतकार[३१] ने वेद के साथ सांख्य, योग, पाशुपत और पांचरात्रमत को समान प्रमाण-कोटि में माना है। **कालिदास**[३२] जब कहते हैं :

बहुधा ह्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे॥

और, **पुष्पदन्त**[३३] जब कहते हैं :

त्रयी साङ्ख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने... नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

और फिर, वीरमित्रोदयकार[३४] जब पूछते हैं : '**ननु साङ्ख्य-योग-पाञ्चरात्र-पाशुपता-द्यागमाः किं धर्मे प्रमाणमुत न**', तब वे इन्हीं शास्त्रों के प्रामाण्य की बात करते हैं। बहुत ही विनम्रता के साथ हम पूछना चाहते हैं कि वैदिक और पौराणिक दृष्टिकोणों में भारी परिवर्त्तन कैसे उत्पन्न हुआ? साथ ही, उसी विनम्रता से अपना उत्तर भी प्रस्तुत करना चाहते हैं कि वैदिक यज्ञों को न केवल उपनिषदों[३५] ने कमजोर नाव बनाया, किन्तु उसी समय सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत जैसे दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का भी उदय हुआ। बुद्ध और महावीर ने जब वैदिक यज्ञीय धर्म पर प्रबल आक्रमण किया, तब भारतीय प्रबुद्ध चिन्तकों ने एक नवीन दृष्टिकोण की उद्भावना की, जिसका पूर्ण प्रतिबिम्ब हमें महाभारत और पुराणों में मिलता है। इनमें उक्त 'कृतान्तपंचक' का ही नहीं, बुद्ध और महावीर के उपदेशों का सार भी हमें मिलता है और वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड से सर्वथा विपरीत भक्तिप्रधान पौराणिक धर्म के दर्शन होते हैं, जिसमें स्त्री और शूद्र को भी समान अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार, नवीन पौराणिक धर्म की ही नहीं, अपितु

भक्तिप्रधान बौद्ध महायान-धर्म की भी उत्पत्ति हुई। पौराणिक धर्म को हम बौद्ध महायान धर्म का सहोदर मान सकते हैं, जनक नहीं। इसपर की जानेवाली अनुपपत्तियों का निराकरण हम आगमिक, महायानिक और पौराणिक प्रभाव की घात-प्रतिघातात्मकता के आधार पर ही कर सकते हैं। यह निश्चित है कि इन तीनों में आपेक्षिक दृष्टि से आगमिक धर्म ही अधिक प्राचीन है, भले ही आज उसका लिखित साहित्य उपलब्ध न होता हो।

सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का प्राचीन वाङ्मय आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु वह था अवश्य। छान्दोग्य उपनिषद्[३६] में 'एकायत' शब्द आया है। यह शब्द निर्विवाद रूप से भागवत (पांचरात्र) श्रुति का निर्देशक माना जाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् की प्रकृति अन्य उपनिषदों से सर्वथा भिन्न है। हमारा नम्र निवेदन है कि उक्त 'कृतान्तपंचक' ने न केवल वैदिकपक्षीय धर्म पर, किन्तु बौद्धधर्म पर भी प्रभाव डाला। फलतः, महायान बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ। महायान-साहित्य और आगम-साहित्य (वैष्णव और शैव) का घात-प्रतिघातात्मक अध्ययन होना चाहिए। दुर्भाग्य से प्राचीन आगम-साहित्य स्वल्प मात्रा में ही बचा है, तो भी पुराणों में हमें इनका पर्याप्त अंश सुरक्षित मिल जायगा। प्राचीन पांचरात्र-संहिताओं और विशेषकर उपलब्ध शैवागमों का प्रकाशन और उनका महायानसूत्रों और पुराणों से तुलनात्मक अध्ययन होना नितान्त अपेक्षित है। अग्निपुराण के अध्याय ३९–७० 'हयशीर्षपांचरात्र'[३७] के आदिकाण्ड से तथा वहीं के अध्याय ७१-१०६ तथा सोमशम्भु-कृत 'कर्मकाण्डक्रमावली'[३८] से मिलते-जुलते हैं, जो कि संवत् ११३० में 'लीलावतीशिवागम' की सहायता से लिखा गया ग्रन्थ है। पुराणों पर, परवर्त्ती काल में आविर्भूत शाक्त तन्त्रों के प्रभाव की बात को तो स्वीकार[३९] किया जाता है, किन्तु इन पुराणों पर वैष्णव और शैव आगमों के प्रभाव की ओर विद्वानों की दृष्टि अभी नहीं गई है। अग्निपुराण के समान ही अन्य अनेक पुराणों में इन आगमग्रन्थों और प्राचीन तन्त्रग्रन्थों के पर्याप्त उद्धरणों की उपलब्धि हो सकती है। पुराण-साहित्य के लिए ही नहीं, साम्प्रदायिक[४०] परवर्त्ती उपनिषद्-साहित्य के लिए भी यह कहा जा सकता है कि समय-समय इनमें घात-प्रतिघातात्मक पद्धति से नवीन तत्त्वों का सन्निवेश हुआ, अथवा सर्वथा नवीन साहित्य का आविर्भाव हुआ।

सर चार्ल्स ईलियट[४१] ने परवर्त्ती भारतीय धार्मिक साहित्य को चार भागों में बाँटा है : १. महाभारत-रामायण, २. पुराण, ३. तन्त्र और ४. सन्त-साहित्य, जिसमें आगमों और संहिताओं का भी समावेश किया गया है। उन्होंने तन्त्र-साहित्य को तृतीय स्थान पर रखा है। हम इनको प्रथम स्थान पर रखना चाहेंगे। अभी हम यह बता चुके हैं कि 'कृतान्तपंचक' की पृष्ठभूमि में इतिहास और पुराण-साहित्य का विकास हुआ। आगमों की अपेक्षा इतिहास और पुराण-साहित्य की विशेषता यह थी कि इन्होंने वेदों का सर्वोपरि प्रामाण्य स्वीकार किया और वर्णाश्रम-व्यवस्था को कोई क्षति न पहुँचने दी। इनकी दूसरी विशेषता परस्पर-विरोधी दृष्टिकोण में समन्वय स्थापित करना था। इन कारणों से इतिहास-पुराण-साहित्य

की परवर्त्तिता स्पष्ट प्रतीत होती है। इसके विपरीत सन्त-साहित्य सीधे आगमिक एवं तान्त्रिक धारा से प्रभावित रहा है और पौराणिक समन्वयवादी दृष्टिकोण को भी वह अस्वीकार नहीं करता।

तब यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि इतने महत्त्व का यह पूरा प्राचीन साहित्य लुप्त कैसे हो गया? पातंजल महाभाष्य, शाबरभाष्य, युक्तिदीपिका जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उद्धृत विशाल भारतीय साहित्य आज उपलब्ध नहीं है, जिसका आविर्भाव ईसा के पूर्व तथा ईसा के बाद की कुछ शतियों में हुआ था। ऐसा क्यों हुआ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर प्राचीन भारतीय इतिहास पर कृतभूरिपरिश्रम विद्वान् ही दे सकते हैं।

बादरायण ने[४२] वेदान्तसूत्र के तर्कवाद में बौद्ध और जैनदर्शन का खण्डन करने से पहले सांख्य-योग एवं वैशेषिक-दर्शन का और बाद में पाशुपत और पांचरात्रमत[४३] का खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि ये सब दर्शन अवैदिक हैं। बौद्ध और जैनधर्म से भी इनकी प्रतिद्वन्द्विता चली होगी। इस दुहरी प्रतिद्वन्द्विता को और इतिहास-पुराण की संग्राहिका प्रवृत्ति को हम पांचरात्र और पाशुपत मत के प्राचीन साहित्य के नष्ट हो जाने का प्रमुख कारण मान सकते हैं।

इस परिस्थिति में पांचरात्र और पाशुपत मत ने भारतीय समन्वयवादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में बौद्ध महायान-धर्म, जैनधर्म, पौराणिक धर्म और न्याय-वैशेषिक-दर्शन पर अपनी कितनी छाप छोड़ी, इसका विश्लेषण करना अभी बाकी है। यह विश्लेषण, इनका जो कुछ अंश बचा है, उसके आधार पर भी किया जा सकता है। किन्तु, खेद है कि यह विशाल आगम-साहित्य अभी अप्रकाशित एवं उपेक्षित ही पड़ा है। पांचरात्रों और पाशुपतों के सम्बन्ध में **कुमारिलभट्ट** एवं **शंकराचार्य** की विरोधी उक्तियों के रहते हुए भी प्रायः सभी धर्मशास्त्रीय निबन्धकारों ने एक निश्चित अंश में उनको प्रमाण माना है।[४४] तो भी यह आश्चर्य की ही बात है कि जिन आगम-ग्रन्थों के सहारे आधुनिक हिन्दू-धर्म के प्रतिनिधि विशाल पुराण एवं स्मृति-साहित्य का, धर्मशास्त्रीय निबन्ध-ग्रन्थों का, स्थापत्य-कला, मूर्त्तिकला, चित्रकला और संगीतशास्त्र का विकास और पोषण हुआ, वह स्वयं उपेक्षित हो गया। वैष्णव एवं शैव आगमों का अध्ययन-अध्यापन स्वल्प मात्रा में केवल दक्षिण भारत में ही बचा है।

डॉ० भाण्डारकर के ग्रन्थ[४५] से तथा अन्य प्रमाणों से भी हम जानते हैं कि किसी समय भारत में सूर्य, स्कन्द, गणेश और शक्ति के उपासक सम्प्रदाय भी विद्यमान थे। शाक्त-सम्प्रदाय भी उतना नवीन नहीं है, जितना कि उसको बताया जाता है।[४६] दिनांक ५ फरवरी, १९७२ ई० के, वाराणसी के दैनिक 'आज' से पता चलता है कि मथुरा-संग्रहालय को लगभग २३०० वर्ष प्राचीन मौर्य-शुंगकालीन अतिप्रसिद्ध यक्षी-प्रतिमा (मनसादेवी) मथुरा से लगभग बीस किलोमीटर दक्षिण की ओर 'झाँग का नगला' नामक ग्राम से मिली है। महाभारत में दुर्गा को सम्बोधित दो स्तोत्र हैं। इनमें पहला विराट

पर्व (अध्याय २३) में है। इन दोनों स्तोत्रों को क्षेपक[४७] माना जाता है, किन्तु महाभारत के भाण्डारकर-संस्करण में श्रीपर्वत,[४८] शाकम्भरी और धूमावती देवी का वर्णन मिलता है। उदयपुर के पुरातत्त्व-संग्रहालय में सन् ४९० ई० का एक शिलालेख[४९] सुरक्षित है, जिसमें देवी की स्तुति की गई है। इस प्रसंग में यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है, क्या शाक्त तन्त्र भी उतने ही प्राचीन हैं?

नेपाल से वि० सं २०२३ में वैरोचन का 'प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसमें शिव के पाँच मुखों से आविर्भूत १६४ शैवतन्त्रों के नाम गिनाकर कहा गया है :

सिद्धान्ने चतुर्वर्णान्नभोजनं गारुडे विषम्।
एकत्र भोजनं घोरे वामे वामामृतं तथा॥
भूततन्त्रे शवस्पर्शः पञ्चस्तोत्रस्त्वयं विधिः।

'तन्त्रालोक' की टीका 'विवेक' में **जयरथ** ने 'श्रीकण्ठीसंहिता' के आधार पर ६४ भैरवागमों की नामावली दी है। 'नित्याषोडशिकार्णव' के प्रारम्भ में एक दूसरी, ६४ तन्त्रों की नामावली है। इसका विश्लेषण हमने इस ग्रन्थ के उपोद्घात[१०] में किया है। **डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची**[११] ने कम्बुज-शिलालेख के आधार पर चार प्राचीन तन्त्रों का उल्लेख किया है। इनके नाम शिरश्छन्द, विनाशिख (शुद्ध रूप : वीणाशिख), सम्मोह और नयोत्तर हैं। इनके सम्बन्ध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। इन प्राचीन तन्त्रों की उपलब्धि हो जाने पर ही इनके आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ कहा जा सकता है। अभी तो यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन सभी ग्रन्थों का आविर्भाव एक ही समय में हुआ। इस काल का जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उसके आधार पर अभी केवल इतना कहा जा सकता है कि इनमें अधिकांश तन्त्र आगम-ग्रन्थों से कुछ भिन्न प्रकृति के हैं। किन्तु, जिन तत्त्वों के समावेश के कारण तन्त्रवाद की भर्त्सना की जाती है, वे तत्त्व इनमें उपलब्ध नहीं हैं। अर्थात्, इन तन्त्रों की प्रकृति कौल-तन्त्रों से भी भिन्न है।

आगमिक अथवा तान्त्रिक उपासना का लक्ष्य भोग और मोक्ष दोनों माना गया है। भोग शब्द यहाँ ऐहिक भोग के लिए ही प्रयुक्त है, पारलौकिक नहीं। क्योंकि, आगमशास्त्र का यह उद्घोष[१२] है कि इनका अनुवर्त्तन करने से एक ही जन्म में मुक्ति प्राप्त हो जाती है। '**रुरुसिद्धान्तसंसिद्धौ भोगमोक्षौ ससाधनौ**'[१३] और '**शिवापदाम्भोज-युगार्चकानां भुक्तिश्च मुक्तिश्च करस्थितैव**'[१४]—ये दोनों ही वाक्य यद्यपि भोग और मोक्ष का विधान करते है, तथापि आगमिक भोग शब्द जहाँ ऐहलौकिक सामान्य ऐश्वर्य का वाचक[१५] है, वहीं कुछ शाक्त तन्त्रों में प्रयुक्त भोग शब्द सम्भोग में रूढ हो गया है और शाक्त तन्त्र की इस एक शाखा के कारण पूरा तन्त्रशास्त्र समालोच्य बन गया है। भोग शब्द के अर्थ में यह परिवर्त्तन कैसे आया? इस प्रश्न का उत्तर दे पाना सरल नहीं है। सामान्यतः, विद्वानों का विचार है कि ये उपादान बौद्ध तन्त्रों में पहले प्रविष्ट हुए

और उनकी लोकप्रियता[५६] के आधार पर अन्य शाक्त तन्त्रों में भी इनका समावेश हो गया। तन्त्रशास्त्र की यह विशिष्ट पद्धति कुलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह परीक्षणीय है कि तन्त्रशास्त्र में कुलाचार अथवा वामाचार का प्रवेश कब और किन परिस्थितियों में हुआ।

शिव के वामदेव-मुख से निर्गत वामतन्त्रों का स्वरूप हाल में उद्धृत 'वामे वामामृतं तथा' इस पद्यखण्ड से कुछ ज्ञात होता है, किन्तु इन वामतन्त्रों और कुलतन्त्रों के साम्य-वैषम्य के विषय में अभी हम कुछ बता पाने की स्थिति में नहीं हैं। कुल अथवा कौल-ग्रन्थों के विषय में अघोरशिव के एक वचन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं, जिससे एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। 'मृगेन्द्रागम' की टीका में वे[५७] कहते हैं : **'हिरण्यगर्भ-कपिल-मत्स्येन्द्रादयो वेद-साङ्ख्य-कौलादितन्त्राणाम्।'** इससे यह ज्ञात होता है कि कौलमार्ग के प्रवर्त्तक प्रथम आचार्य मत्स्येन्द्र हैं। यही बात जयरथ ने भी[५८] कही है। मत्स्येन्द्रनाथ के आविर्भाव-काल और गोरक्षनाथ से उनके सम्बन्ध के सन्दर्भ में व्यक्त किये गये अधिकांश विद्वानों के मत से इन पंक्तियों का लेखक सहमत नहीं है। इस विषय पर बाद में कभी विस्तार से विचार किया जायगा। **डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय**[५९] ने मत्स्येन्द्र का आविर्भाव-काल ईसा की पाँचवीं शती माना है। यह लेखक इस बात से सहमत है कि इसी के आसपास कामरूप-क्षेत्र में इनका आविर्भाव हुआ। 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प'[६०] में शैव और वैष्णव-तन्त्रों का उल्लेख है, शाक्त या कुलतन्त्रों का नहीं। इसके विपरीत, गुह्यसमाज एक कुलतन्त्र है। इसका आविर्भाव पाँचवीं शती से सातवीं शती के बीच माना जाता है। अघोरशिव के वचन पर यदि हम विश्वास करें; क्योंकि अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है, तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मत्स्येन्द्र के आविर्भाव के बाद ही इस बौद्धतन्त्र का भी आविर्भाव हुआ।

मत्स्येन्द्रनाथ ने स्वोपज्ञात ज्ञान को छह राजपुत्रों में बाँट[६१] दिया और इस प्रकार छह कुलों में उनकी यह परम्परा चली। यहाँ इस परम्परा के लिए 'ओवल्ली' शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन ओवल्लियों में दीक्षित साधकों के नाम के अन्त में आनन्द, आवलि, बोधि, प्रभु, पाद और योगी शब्द जोड़े जाते थे। इसी प्रकार हम अनेक बौद्ध साधकों के नामों के अन्त में बोधि, प्रभु और पाद शब्द को प्रयुक्त देखते हैं। भारतीय साहित्य में ८४ सिद्धों की[६२] परम्परा प्रसिद्ध है। इनमें सभी वर्णों और धर्मों के उत्कृष्ट साधकों के नाम मिलते हैं। राजयोग, सहजयोग, कुण्डलिनीयोग और हठयोग के साधकों की इस परम्परा में भोग शब्द सम्भोगपरक कैसे हो गया, यह एक अध्ययन का विषय है। भोग शब्द की इस नूतन व्याख्या के आधार पर, तन्त्रशास्त्र की इस शाखा में एक नवीन दृष्टि का उन्मेष हुआ, जिसने कि पूरे तन्त्रशास्त्र को भर्त्सना-योग्य बना दिया। इस आक्षेप को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि कभी-कभी यह साहित्य कामशास्त्र[६३] के घेरे में प्रविष्ट हो जाता है। मारविजयी शैव और बौद्धधर्म में मार (काम) के इस अनोखे

प्रवेश से ही परवर्त्ती शाक्त और बौद्ध कौलतन्त्रों की सृष्टि हुई। यह कहा जा सकता है कि धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में काम और अर्थ के अवांछनीय प्रवेश के कारण ही यह देश पराधीन हो गया और अब भी नहीं सँभल रहा है।

आगम अथवा तन्त्रशास्त्र अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में विभक्त है। इनमें कुछ का परिचय हमने अन्यत्र[१४] दिया है। इसकी एक-दो शाखाओं में, कालान्तर में उद्भूत कुछ त्रुटियों के आधार पर पूरे शास्त्र को अग्राह्य नहीं माना जा सकता। भारत के विगत ढाई हजार वर्ष के धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक इतिहास पर आगम अथवा तन्त्रशास्त्र की गहरी छाप पड़ी है और आज का भारतीय जनजीवन वैदिक धर्म की अपेक्षा तान्त्रिक धर्म से अधिक संचालित है।

पूरा तान्त्रिक दर्शन जगत् को मायानिर्मित या अलीक नहीं मानता। इस जगत् को वह परमतत्त्व की ही परिणति मानता है। जैसे, तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं, वैसे ही उनकी दार्शनिक चिन्ता भी अनेक शाखाओं-उपशाखाओं में बँटी है। इन शाखाओं में नाद, बिन्दु, कला, प्रभृति शब्दों की अपनी-अपनी व्याख्याएँ हैं। कुछ शाखाओं के ये मौलिक तत्त्व हैं। आगमिक अथवा तान्त्रिक षडध्व-प्रक्रिया के ये अंग हैं। यह स्वाभाविक है कि केवल 'प्रपंचसार', 'शारदातिलक' जैसे परवर्त्ती काल की रचनाओं को इनका मूल माननेवालों[१५] की दृष्टि में इनका अर्थ स्पष्ट न प्रतीत होता हो।

प्रसंगवश, यह कहना अस्वाभाविक नहीं माना जायगा कि तान्त्रिक वाङ्मय में 'प्रपंचसार' और 'शारदातिलक' का अपना वैशिष्ट्य है। इनमें शिव, विष्णु, शक्ति, गणपति, सूर्य, स्कन्द आदि की सभी तान्त्रिक उपासना-विधियों को एक कर दिया गया है। इन ग्रन्थों को हम स्मार्त्त धर्म का आधार मान सकते हैं। 'प्रपंचसार' के साथ शंकराचार्य का नाम जुड़ा है। ग्यारहवीं शती की 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति'[१६] में यह ग्रन्थ उद्धृत है। छठीं-सातवीं से दसवीं-ग्यारहवीं शती के बीच प्रकट हुआ विपुल तान्त्रिक साहित्य अभी अप्रकाशित पड़ा है। इसके प्रकाशन के बाद ही 'प्रपंचसार' और 'शारदातिलक' का सही मूल्यांकन किया जा सकता है; क्योंकि ये दोनों ग्रन्थ इसके पूर्व आविर्भूत सभी तान्त्रिक सम्प्रदायों और तत्त्वों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

हमने ऊपर बताया है कि ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य, योग, वैशेषिक, बौद्ध और जैनदर्शन के साथ पाशुपत और पांचरात्र-मत का भी खण्डन किया गया है। **शंकराचार्य** ने अपने भाष्य में इन सभी मतों को अवैदिक और अनौपनिषदिक बताया। इसके विपरीत वाङ्मय की विभिन्न धाराओं में आगमशास्त्र को वेद से ऊँचा स्थान दिया गया था। इस प्रसंग में 'कुलार्णवतन्त्र' (२।७-८) के दो श्लोक द्रष्टव्य हैं। उनका भाव यह है कि सभी शास्त्रों में वेद सर्वोत्तम है, किन्तु इनसे भी ऊँचा स्थान क्रमशः आगमिक अथवा तान्त्रिक वाङ्मय की वैष्णव, शैव, दक्षिण और वामसिद्धान्त-शाखाओं का है और इनमें कौलमत का स्थान सर्वोपरि है। **अभिनवगुप्त**[१७] भी वेद, शैव, वाम, दक्ष, कुल, मत और त्रिक-शाखाओं

का क्रमशः गरीयस्त्व मानते हैं। किन्तु, शंकराचार्य के आविर्भाव के बाद धीरे-धीरे तान्त्रिक वाङ्मय ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने की अपेक्षा अपने मत को वैदिक और औपनिषदिक सिद्ध करने में ही पूरी शक्ति लगा दी।[६८] इसका जो अंश स्वीकृत हुआ, वह वैदिकीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही। इसके विपरीत, तन्त्रशास्त्र की विद्रोही शाखा में धर्म और आध्यात्मिकता (मोक्ष) के आवरण में काम और अर्थ ने प्रवेश पा लिया। उसका जो परिणाम हुआ, उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। फलतः, बौद्धधर्म के साथ ही यह तान्त्रिक धर्म भी यहाँ उपेक्षित हो गया।

म० म० पी० वी० काणे[६९] महोदय ने लिखा है : "तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं आचारों से सम्बद्ध इस अध्याय के अन्त में एक विचित्र बात की चर्चा कर देना आवश्यक है। **सायण-माधव** भाइयों (१४वीं शती) ने 'सर्वदर्शनसंग्रह' नामक ग्रन्थ में पन्द्रह दर्शनों की चर्चा की है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि इन लोगों ने तन्त्रों के विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा, जब कि इन्होंने चार्वाक-दर्शन एवं बौद्ध तथा जैन सिद्धान्तों पर पर्याप्त लिखा है। ऐसा मानना असम्भव है कि इन दो विद्वान् भाइयों को तन्त्र के विषय में ज्ञान नहीं था। यदि कल्पना का सहारा लिया जाय, तो ऐसा कहा जा सकता है कि जिन कारणों से बंगाल के **राजा वल्लालसेन** ने अपने 'दानसागर' में 'देवीपुराण' को छोड़ दिया था, उन्हीं कारणों से सम्भवतः इन विद्वान् भाइयों ने तन्त्रों की चर्चा नहीं की। इतना ही नहीं, तबतक तन्त्रग्रन्थ समाज में पर्याप्त रूप से अरुचिकर हो चुके थे और विद्वान् लोग उनका विरोध करने लग गये थे। यह बात शाक्त तन्त्रों की केवल उपरिचर्चित शाखा के लिए ही लागू हो सकती है। 'प्रपंचसार'[७०] और 'शारदातिलक'[७१] में तान्त्रिक दर्शन तथा अन्य सामान्य विषयों का निरूपण करने के बाद सर्वप्रथम शक्ति की उपासना वर्णित है। 'सौन्दर्यलहरी' की टीका में **लक्ष्मीधर**[७२] ने कुलाचार को अवैदिक और समयाचार को वैदिक सिद्ध किया है और आज भी महान् **आचार्य शंकर** के द्वारा स्थापित मठों की परम्परा में त्रिपुरा की उपासना उसी विधि से ही सम्पन्न होती है। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में भी न(ल) कुलीश-पाशुपत, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और रसेश्वरदर्शन के अलग-अलग प्रकरण हैं। ये सभी दर्शन आगम और तन्त्रशास्त्र का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्णप्रज्ञदर्शन की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए सर्वदर्शनसंग्रहकार ने कहा है कि 'पांचरात्रोपजीव्यत्व'[७३] रामानुज और माध्वदर्शन की समान विशेषता है।

तन्त्रशास्त्र का अध्ययन हमें इस शास्त्र के मध्यकालीन (१०-११वीं शती) महान् आचार्य **अभिनवगुप्त** के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' को केन्द्रबिन्दु मानकर करना चाहिए। अभिनवगुप्त तथा उनकी शिष्य-परम्परा में उद्धृत विशाल आगमिक एवं तान्त्रिक साहित्य को हम प्राचीन तथा तदितर साहित्य को नवीन काल में आविर्भूत मानते हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन से इनका यह समय, प्रकृति और प्रतिपाद्य विषय का भेद स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। अभिनवगुप्त से पहले और बाद में आविर्भूत तन्त्रशास्त्र के अध्ययन को एक में मिला देने से नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ उठ खड़ी हुई हैं। हम तन्त्रशास्त्र के आगम-

निगम अथवा[७४] आगम, यामल, तन्त्र इन विभागों को ही लें, अभिनवगुप्त के पूर्वकालीन ग्रन्थों में आगम और निगम जैसा विभाजन उपलब्ध नहीं होता। साधारणतः, यहाँ का आगम शब्द तन्त्रशास्त्र के अर्थ में और निगम शब्द वेद, वेदांग, दर्शन आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है। शिव अथवा देवी द्वारा उपदिष्ट उभयविध साहित्य आगम-कोटि के अन्तर्गत ही आता है।[७५] क्रमदर्शन के अधिकांश आगम-ग्रन्थ देवी के द्वारा ही उपदिष्ट हैं। इस दर्शन में काली प्रधान उपास्य हैं। इस उपासना का स्वरूप बंगाल में आजकल प्रचलित काली की उपासना से नितान्त भिन्न है। '**कुलचूडामणि**' **क्षेमराज** की 'शिवसूत्रविमर्शिनी'[७६] में उद्धृत है। यहाँ का श्लोक कलकत्ता से प्रकाशित 'कुलचूडामणिनिगम' में उपलब्ध नहीं है। स्पष्ट है कि यह संस्करण और उसके साथ निगम शब्द का संयोजन परवर्त्ती काल का प्रभाव है। यही बात 'कुलार्णवतन्त्र' और 'तन्त्रराजतन्त्र' के विषय में कही जा सकती है। 'तन्त्रालोकविवेक'[७७] में उद्धृत 'श्रीकण्ठीसंहिता' के अनुसार, यामलों का चौंसठ भैरवागमों में अन्तर्भाव है। अतः, इनकी प्रकृति अन्य भैरवागमों के अनुकूल ही होगी। 'वाराहीतन्त्र'[७८] के आधार पर इनकी नई व्याख्या कालभेद के कारण ही सम्भव है।

तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् **श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्त्ती** की पुस्तक 'दि तन्त्राज़ : स्टडीज ऑन देयर रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर' को हम इस विषय की अबतक प्रकाशित पुस्तकों में सबसे अधिक युक्तिसंगत मानते हैं। इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक कुछ अध्यायों के निष्कर्षों से हम प्रायः सहमत हैं। असहमति वहीं उपस्थित होती है, जहाँ वे अभिनव-गुप्त के परवर्त्ती काल में आविर्भूत शास्त्रों को पूर्ववर्त्ती अध्ययन में प्रमाण के रूप में उपस्थित करते हैं। बाद के अध्यायों में इनका अध्ययन पूर्णतः परवर्त्ती काल में आविर्भूत ग्रन्थों के आधार पर ही उपस्थित किया गया है। जब वे स्वयं कहते हैं कि[७९] तान्त्रिक पूजाविधि ने हिन्दू-समाज के धार्मिक जीवन में लगभग ४००-५०० वर्ष से सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। यह बात बंगाल के विषय में ही सही है कि वहाँ का जनजीवन इस काल में आविर्भूत इस नवीन तान्त्रिक धारा से ही पूरा प्रभावित रहा है। इससे हमारी इस स्थापना को समर्थन मिलता है कि परवर्त्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था। पांचरात्र और पाशुपत मत की प्राचीनता का उल्लेख करते हुए भी ये इसके पूर्ववर्त्ती प्रभाव को आगमिक अथवा तान्त्रिक न मानकर अन्य विद्वानों के समान ही उसे पौराणिक[८०] मानते हैं। इस सम्बन्ध में हम अपने विचार पहले बता चुके हैं।

प्राचीन पांचरात्र और पाशुपत-साहित्य अब उपलब्ध नहीं है। वैष्णवागम मुख्यतः तीन भागों में बँटा है : वैखानस, पांचरात्र और भागवत। वैखानस-आगम के कुछ ग्रन्थ तिरुपति से प्रकाशित हुए हैं। पांचरात्र-आगम में सात्वत, पौष्कर और जयाख्यसंहिताओं का विशेष सम्मान है। '**सात्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः**' (भीष्म, ६६।४०)। महाभारत के इस श्लोक में विद्वानों के अनुसार 'सात्वतसंहिता' का उल्लेख है। यह संहिता 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' (५५।६) में भी उद्धृत है। 'जयाख्यसंहिता' बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। 'जयाख्यसंहिता' और 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की प्राचीनता के विषय में विद्वानों ने पर्याप्त प्रकाश

डाला है। 'हयशीर्षपांचरात्र' में पांचरात्र और भागवत तन्त्रों की नामावली है। **डॉ० श्रोडर** महोदय ने 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' की भूमिका में इन सबको 'पांचरात्रसंहिता' ही मान लिया है। यामुनाचार्य के 'आगमप्रामाण्य', रामानुजाचार्य के 'पांचरात्राधिकरण' तथा वेदान्तदेशिक की 'पांचरात्ररक्षा' में अनेक संहिताएँ प्रमाण-रूप में उद्धृत हैं। 'अनिरुद्धसंहिता' के सम्पादक **श्रीआसूरि श्रीनिवास अय्यंगार** (मैसूर) के अनुसार, अबतक २७५ संहिताओं की नामावली उपलब्ध हो चुकी है।

ईसा की दूसरी शती में पाशुपत योगाचार्यों की परम्परा में लकुलीश का आविर्भाव हुआ। इनका मत लकुलीश-पाशुपत के नाम से 'सर्वदर्शनसंग्रह' में संगृहीत है। इनका पाशुपतसूत्र कौण्डिन्य के भाष्य से साथ त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित है। 'गणकारिका' बड़ौदा से प्रकाशित हुई है। लकुलीश-पाशुपतमत के उपलब्ध साहित्य का परिचय **डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय** ने 'शैवदर्शनबिन्दु' (संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी) में दिया है। लकुलीश से विद्यागुरु-पर्यन्त १८ आचार्यों की नामावली[८१] मिलती है। इनका विशाल साहित्य आज नामशेष हो चुका है।

शिव के पाँच मुखों से विनिर्गत शास्त्रों की चर्चा ऊपर की गई है। अट्ठाईस शैवागमों के अतिरिक्त २०७ उपागमों[८२] की नामावली पाण्डिचेरी से प्रकाशित रौरवागम के प्रारम्भ में दी गई है। इन मूल आगमों के अतिरिक्त, उग्रज्योति से अघोरशिव-पर्यन्त अट्ठारह पद्धतिकारों, व्याख्याकारों और भाष्यकारों का विशाल साहित्य 'सिद्धान्त' पद से अभिहित हुआ है। बौद्ध तन्त्रों की विशाल राशि भोट-भाषा में अनुवाद के रूप में तथा मूल रूप में भी उपलब्ध है। 'श्रीकण्ठीसंहिता' और 'नित्याषोडशिकार्णव' में परिगणित चौंसठ तन्त्रों के अतिरिक्त कुल, क्रम और त्रिक आगमों का विशाल साहित्य 'तन्त्रालोक' आदि में उद्धृत मिलता है। इस सारे वाङ्मय का समावेश हम प्राचीन साहित्य में करते हैं।

इस विशाल आगमिक और तान्त्रिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन इस शास्त्र के विषय में उत्पन्न की गई अनेक भ्रान्तियों को स्वतः निर्मूल कर देगा और भारतीय विद्या के विद्वानों के लिए नूतन दिशा-निर्देश करने में समर्थ होगा।

१. 'तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद', २. 'काश्मीरीय शैवदर्शन', ३. 'तान्त्रिक बौद्ध साधना', ४. 'तान्त्रिक दृष्टि', ५. 'वैष्णव साधना और साहित्य', ६. 'सहजयान और सिद्धमार्ग' प्रभृति निबन्धों में तथा अपने सन्दर्भ-ग्रन्थ 'तान्त्रिक साहित्य' में **श्रद्धेय कविराजजी ने** आगमशाक्त एवं तन्त्रशाक्त के अन्तर्गत समाहित सम्पूर्ण साहित्य का दार्शनिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है। इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गम्भीरता का परिचय मिलता है। कविराजजी का यह निश्चित मत था कि परवर्त्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन ने शून्यवादी बौद्ध दर्शन और मायावादी शांकर दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर

तक पहुँचाया था। महार्थमंजरीकार **महेश्वरानन्द** ने अपने ही ग्रन्थ की 'परिमल' टीका में इस विषय को अनेक हृदयहारिणी युक्तियों के सहारे प्रतिष्ठित किया है।

विगत ढाई हजार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य जाने क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके विना हम न तो बौद्धधर्म की महायान-शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते हैं। बौद्ध और जैनधर्म के स्वरूप को परिवर्त्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा में आगामिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है। इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति-साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों का भी अध्ययन आज वेदान्त-दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैव और वैष्णव आगमों से प्रभावित था, इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालनेवाले प्रथम व्यक्ति **कविराजजी** ही थे। अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में उन्होंने विस्तार से समझाया है कि सूफी-मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त-दर्शन से अधिक प्रभावित है। वज्रयान, सहजयान और शाक्तदर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था। आज उनकी, इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराजजी को प्रिय था। कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया। जहाँतक योग का प्रश्न है, 'व्यासभाष्य'[८३], 'विज्ञानभैरव' और 'विरूपाक्षपंचाशिका' ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे। इन ग्रन्थों को उन्होंने शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक इनकी अथाह गम्भीरता को उद्भावित करते हुए पढ़ाया था। उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी। उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा।

इस नवीन दृष्टि के आविर्भावक उस क्रान्तदर्शी मनीषी को आज हम शत-शत बार श्रद्धा-सुमनांजलि समर्पित करते हैं, जिसने यथार्थवादी जीवन के प्रेरणास्रोत इस आगमिक और तान्त्रिक साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिए ही अपने पूरे जीवन को समर्पित कर दिया!

सन्दर्भ :

१. प्राचीन भारतीय साहित्य (हिन्दी-संस्करण), भा० १, ख० २, पृ० २४५ (प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् १९६६ ई०)।
२. तत्रैव, पृ० २४५; टिप्पणी भी द्रष्टव्य : "इस तरह, वैष्णवों की पाञ्चसंहिता को पाञ्चतन्त्र कहा गया है। भागवत (१।३।८) में निर्दिष्ट 'सात्वतं तन्त्रम्' शायद

सात्त्वतसंहिता ही है। लक्ष्मीतन्त्र एक वैष्णव ग्रन्थ है।" इस प्रसंग में यह अवधेय है कि हयशीर्षपांचरात्र (आदि०, पटल ३) और अग्निपुराण (अध्याय ३९) में पांचरात्र ग्रन्थों को तन्त्र नाम से ही सम्बोधित किया गया है, संहिता के नाम से नहीं।

३. हिन्दुइज्म ऐण्ड बुद्धिज्म, लन्दन, भा० २, पृ० १८८-१८९, मूल एवं टिप्पणी।
४. प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० २४५–२४९ तक।
५. तत्रैव, पृ० २४९।
६. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १९१।
७. प्राचीन भा० सा०, पृ० २६२।
८. धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी-संस्करण), भा० ५, अ० २६, पृ० ४६ (प्रकाशक : हिन्दी-समिति, उत्तरप्रदेश-शासन, लखनऊ, सन् १९७३ ई०)।
९. तत्रैव, पृ० १।
१०. तत्रैव।
११. तत्रैव, पृ० ५५–५८ एवं ७८–८३।
१२. हिन्दुइज्म०, 'भागवताज़ ऐण्ड पाशुपताज़' प्रभृति अध्याय, भा० २, पृ० १८७ से।
१३. प्राचीन भा० सा०, पृ० २४९।
१४. तत्रैव, पृ० २५०।
१५. म० म० भारतरत्न पी० वी० काणे महोदय ने उक्त ग्रन्थ के पृ० २-३ (मूल एवं टिप्पणी) में इन विद्वानों के मतों का उल्लेख और खण्डन किया है।
१६. **प्रो० चिन्ताहरण चक्रवर्त्ती** ने 'दि तन्त्राज़ : स्टडीज़ ऑन देयर रिलीजन ऐण्ड लिटरेचर' (कलकत्ता, सन् १९६३ ई०) नामक ग्रन्थ के 'प्लेस ऑव दि तन्त्राज़ अमोंग अदर शास्त्राज़' नामक अध्याय (पृ० २९–३७) में भागवत, वायुसंहिता, मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूकभट्ट, भास्करराय, मित्रमिश्र, मधुसूदन सरस्वती आदि के प्रमाणों पर इस बात को सिद्ध किया है।
१७. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १९०।
१८. द्र० म० म० हरप्रसाद शास्त्री का कैटलाग, ताडपत्र-पाण्डुलिपि, नेपाल दरबार-लाइब्रेरी (कलकत्ता, सन् १९०५ ई०) भा० १, भूमिका, पृ० ८९।
१९. धर्मशास्त्र०, भा० ५, अ० २६, पृ० २।
२०. दि तन्त्राज़०, पृ० ४७।
२१. स्टडीज इन दि तन्त्राज़ : डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची, भा० १, पृ० ४५।
२२. द्र० बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के तन्त्र-विषयक सूचीपत्र में ५८०४ और ५८०५ संख्यक ग्रन्थों का विवरण।
२३. धर्मशास्त्र०, पृ० २, टि० ४।
२४. तत्रैव, पृ० ३।

२५. स्टडीज० में 'ऑन फोरेन एलिमेण्ट इन दि तन्त्र' नामक प्रकरण, पृ० ४५–५५ ।

२६. **डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची** ने अपने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में (पृ० १–१३) कम्बुज-शिलालेख में उद्धृत चार प्राचीन तन्त्रग्रन्थों का उल्लेख कर उनका परिचय देने का प्रयत्न किया है । यहाँ उद्धृत 'सम्मोहतन्त्र' को वे विष्णुक्रान्ता-विभाग में स्मृत 'सम्मोहनतन्त्र' से अभिन्न मानते हैं और इसी ग्रन्थ की मातृका के आधार पर अपना अध्ययन भी प्रस्तुत करते हैं । इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि तन्त्रों का **सर जॉन वुडरफ** द्वारा प्रतिपादित अश्वक्रान्ता, रथक्रान्ता और विष्णुक्रान्तावाला विभाग परवर्त्ती तन्त्र-साहित्य पर आधृत है । कम्बुज-शिलालेख में स्मृत शिरश्छेद, वीणाशिख (विनाशिख नहीं, जैसा कि डॉ० वागची ने उद्धृत किया है) और सम्मोहतन्त्रों का सही परिचय **म० म० पं० गोपीनाथ कविराज महोदय** ने नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित 'विश्वकोश' के पंचम खण्ड में 'तन्त्र-साहित्य' शब्द का विवरण प्रस्तुत करते हुए दिया है । नयोत्तर तन्त्र का परिचय हमने नित्याषोडशिकार्णव (संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन् १९६८ ई०) के अपने उपोद्घात (पृ० २८) में दिया है । नेपाल से २०२३ वि० सं० में प्रकाशित वैरोचन के ग्रन्थ 'प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय' (२।२२१) में भी नयोत्तर वाम-तन्त्रों में परिगणित है । यह ग्रन्थ विक्रम की नवीं शती में रचित माना जाता है । इस प्रकार, कम्बुज-शिलालेख में स्मृत तीन ग्रन्थ दक्षिण स्रोत से विनिर्गत भैरवागमों के अन्तर्गत और चतुर्थ वामस्रोत से विनिर्गत तन्त्र है । इनका डॉ० वागची के द्वारा प्रतिपादित विवरण से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । विशेष जानकारी के लिए हमारा 'सम्मोहनतन्त्रं शक्तिसङ्गमतन्त्रादभिन्नम्' शीर्षक निबन्ध द्रष्टव्य ।

२७. **म० म० पी० वी० काणे** महोदय ने इसी प्रसंग में रुद्रयामल का प्रमाण दिया है (पृ० ३) । कलकत्ता से प्रकाशित 'कुलचूडामणिनिगम' में जैसे क्षेमराज की 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में उद्धृत इस ग्रन्थ का श्लोक उपलब्ध नहीं होता, इसी तरह रुद्रयामल के जीवानन्द-संस्करण में भी इस ग्रन्थ के प्राचीन उद्धरण और विषय नहीं प्राप्त होते । अतः, इस संस्करण की प्राचीनता यद्यपि सन्दिग्ध है, तथापि प्रायः यही विषय ब्रह्मयामल, देवीभागवत (द्रष्टव्य : स्टडीज० : चक्रवर्त्ती, पृ० ४६) आदि में भी आता है । इसका समाधान बौद्ध और हिन्दू-शाक्ततन्त्रों की घात-प्रतिघातात्मकता में ही खोजा जा सकता है । किसी सही निर्णय पर पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि इन ग्रन्थों के आविर्भाव-काल को पहले निश्चित कर लिया जाय ।

२८. 'एन इण्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म' नामक ग्रन्थ का 'इन्फ्लुएन्स ऑव बुद्धिस्ट तान्त्रिसिज्म ऑन हिन्दुइज्म' (पृ० १४७–१६४) शीर्षक प्रकरण द्रष्टव्य (चौखम्बा संस्कृत-सिरीज, वाराणसी, सन् १९६४ ई०) । **डॉ० पी० वी० काणे** ने इस मत की विस्तार से समालोचना की है ।—द्र० : धर्मशास्त्र०, पृ० ७-८ ।

२९. तत्रैव, पृ० ५० ।

३०. 'अर्ली हिस्ट्री ऑव दि वैष्णव सेक्ट', पृ० ३९–५४ (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, सन् १९२० ई० ।

३१. शान्तिपर्व, नारायणीयोपाख्यान (३४९।६८), गीता प्रेस, गोरखपुर ।

३२. रघुवंश (१०।२६), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३२ ई० ।

३३. शिवमहिम्नःस्तोत्र, श्लो० ७ ।

३४. वीरमित्रोदय. परिभाषा-प्रकरण, पृ० २०, वाराणसी, सन् १९०६ ई० ।

३५. 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपाः ।' (मुण्डको० १।२।७ ।

३६. 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि .. .. वाकोवाक्यमेकायनम्... ।' (७।१।२) ।

३७. हयशीर्षपांचरात्र, आदिकाण्ड, पटल १–१४ (प्रथम भाग, सन् १९५२ ई०); पटल १५–४४ (द्वितीय भाग, सन् १९५६ ई०), वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटी, राजशाही, बँगलादेश से प्रकाशित है । अग्निपुराण के उक्त अध्यायों के वक्ता हयग्रीव अथवा भगवान् हैं । इस प्रकरण का प्रारम्भ करने से पहले अग्निपुराण में कहा गया है : 'हयशीर्षः प्रतिष्ठार्थं देवानां ब्रह्मणेऽब्रवीत्' (३८।५१) । हयशीर्षपांचरात्र का उपदेश भगवान् हयशीर्ष ने ब्रह्मा को दिया है । अग्निपुराण के ३९वें अध्याय के प्रारम्भ में दिये गये २५ पांचरात्र तन्त्रों के नाम वे ही हैं, जो हयशीर्षपांचरात्र के पटल २ के प्रारम्भ में पठित हैं । अग्निपुराण में, भागवतसंहिताओं और सामान्य संहिताओं के नाम छोड़ दिये गये हैं ।

३८. कर्मकाण्डक्रमावली, पृ० ३१ से १८६ (कश्मीर-ग्रन्थमाला, सन् १९४७ ई०) । अग्निपुराण के इन अध्यायों के वक्ता ईश्वर हैं । 'स्कन्दायेशो यथा प्राह प्रतिष्ठार्थं तथा शृणु' (७०।९) इस उक्ति के बाद यह प्रकरण प्रारम्भ होता है । कर्मकाण्ड-क्रमावली, संवत् ११३० की रचना है । इस ग्रन्थ के उक्त पृष्ठ—'अथ संक्षेपतो दृष्टं लीलावत्यां शिवागमे' इस श्लोक से आरम्भ होते हैं । यह कहा जा सकता है कि 'लीलावती' नामक शिवागम के आधार पर 'कर्मकाण्डक्रमावली' और 'अग्नि-पुराण'—दोनों में उक्त विषय का समावेश किया गया ।

३९. धर्मशास्त्र०, भा० ५, अ० २६, पृ० १ एवं ४८–४९ ।

४०. "किन्तु ये उपनिषदें, ऐसा लगता है, तन्त्रों को आलम्ब देने के लिए (क्योंकि वे अनादृत हो चले थे) प्रणीत हुई और उनका उल्लेख राघवभट्ट एवं भास्कराचार्य (भास्करराय) जैसे मध्यकालीन (?) लेखकों ने ही किया है ।" (धर्मशास्त्र, भा० ५, अ० २६, पृ० १२) ।

४१. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० १८६–१९१ ।

४२. वेदान्तसूत्र, तर्कपाद (द्वितीयाध्याय, द्वितीय पाद) ।

४३. पांचरात्राधिकरण की व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विशिष्ट दृष्टिकोणों से की है । आचार्य शंकर पांचरात्र आगम को कुछ अंशों में प्रमाण और कुछ अंशों में अप्रमाण

मानते हैं। रामानुज इसको सर्वात्मना प्रामाण्य मानते हैं। मध्व, निम्बार्क और बलदेव विद्याभूषण के मत से इस अधिकरण में शाक्त मत समालोचित है। इस सम्बन्ध में हमने 'पांचरात्राधिकरण' शीर्षक निबन्ध में विस्तार से विचार किया है। द्रष्टव्य : श्रीकृष्णसन्देश, व० ५, अ० ४, पृ० ५१–५४, नवम्बर, १९६९ ई०।

४४. द्रष्टव्य : अपरार्क-कृत याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका, भा० १, पृ० १०–१९ (आनन्दाश्रम-संस्कृत-ग्रन्थमाला, पूना, सन् १९०३ ई०)।

४५. 'वैष्णविज्म, शैविज्म ऐण्ड अदर माइनर रिलीजस सिस्टम्स': डॉ० रामकृष्ण गोपाल भाण्डारकर (इण्डो-आर्यन रिसर्च-ग्रन्थमाला, सन् १९१३ ई०)।

४६. शाक्त तन्त्रों पर बौद्ध तन्त्रों के प्रभाव का खण्डन करने के बाद **डॉ० पी० वी० काणे** महोदय ने विस्तार से शाक्त मत की प्राचीनता को सप्रमाण सिद्ध किया है (द्र० धर्मशास्त्र०, पृ० ७–१३)। उनका कहना है कि "दुर्गापूजा अपने कतिपय रूपों में ३०० ई० से कम-से-कम सौ वर्ष पुरानी है।" (पृ० १२, टि० १७)

४७. धर्मशास्त्र०, पृ० १२।

४८. 'श्रीपर्वते महादेवो देव्या सह महाद्युतिः।' (वन० ८३।१७); 'ततो गच्छेत राजेन्द्र देव्याः स्थानं सुदुर्लभम्। शाकम्भरीति विख्याता त्रिषु लोकेषु विश्रुता॥' (वन० ८२।११), 'धूमावतीं ततो गच्छेत्' (८२।२०)।

४९. यह शिलालेख 'एपिग्राफिया इण्डिका' के व० ३०, अ० ४, पृ० १२०–१३७ में विवरण के साथ प्रकाशित हुआ है।

५०. संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी से सन् १९६८ ई० में प्रकाशित, उपोद्घात, पृ० २३–३१ द्रष्टव्य।

५१. 'स्टडीज इन दि तन्त्राज्', पृ० १-२, इस शिलालेख में तिथि अंकित नहीं है, किन्तु शक-संवत् ९७४ (=१०५२ ई०) तक की सूचनाएँ इसमें प्राप्त हैं। इसमें बताया गया है कि शक-संवत् ७२४ (=८०२ ई०) में राजा जयवर्मा द्वितीय के राज्यकाल में हिरण्यदाम ने शिवकैवल्य को उक्त चार तन्त्रों की शिक्षा दी।

५२. इस सम्बन्ध में अवधूत सिद्ध के भक्तिस्तोत्र का ३०वाँ श्लोक, महार्थमंजरीपरिमल (पृ० १४५) में उद्धृत शिवधर्म और परमार्थसार की योगराज-कृत टीका (पृ० १९५) में उद्धृत शिवधर्मोत्तर के वचन द्रष्टव्य हैं।

५३. अष्टप्रकरण-स्थित सद्योज्योति-कृत मोक्षकारिका की रामकाण्ड-कृत टीका, पृ० १ (वाणीविलास-मुद्रणालय, श्रीरंगम्, सन् १९२५ ई०)।

५४. 'सौन्दर्यलहरी' की टीका सौभाग्यवर्द्धनी (पृ० २२) में उद्धृत 'अशेषकुलवल्लरी' का श्लोक।

५५. इसकी तुलना वैशेषिक सूत्र के 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' (१।१।२) धर्म के इस लक्षण से की जा सकती है।

५६. धर्मशास्त्र० भा० ५, अ० २६, पृ० ३७ ।

५७. विद्यापाद के नारायणकण्ठ के भाष्य पर दीपिका टीका, पृ० ७४ ।

५८. 'सकलकुलशास्त्रावतारकतया प्रसिद्धः... ... ...मच्छन्दः' (तन्त्रालोक, भा० १, पृ० २५) ।

५९. अभिनवगुप्त : एक हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलासॉफिकल स्टडी, चौखम्बा संस्कृत-सिरीज, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३ ई०, पृ० ५४६ ।

६०. पृ० २३-२४, मिथिला-विद्यापीठ, दरभंगा, सन् १९६४ ई० ।

६१. द्रष्टव्य : लेखक का, 'सारस्वती सुषमा', वाराणसी के व० २०, अ० २, संवत् २०२२ में प्रकाशित 'त्रिपुरादर्शनस्यापरिचिता आचार्याः कृतयश्च' शीर्षक निबन्ध, पृ० ६३ ।

६२. इन सिद्धों की नामावली अभी तक सही रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाई है, किन्तु उनमें प्रथम स्थान निर्विवाद रूप से मीननाथ (मत्स्येन्द्र) को दिया जाता है। इससे भी हमारे उक्त मत की पुष्टि होती है ।

६३. दि तन्त्राज़० : चक्रवर्त्ती, पृ० ३८ एवं ४३ । काणे महोदय ने तन्त्रशास्त्र की इस प्रकृति का विस्तार से परिचय देने के बाद उसकी समालोचना की है (पृ० २६–४८) । प्रस्तुत लेखक इस समालोचना से सहमत है । इस प्रसंग में उन्होंने **सर जॉन वुडरफ** की समालोचना की है (पृ० ३७–३९) । इसपर हमारा इतना ही कहना है कि वुडरफ महोदय ने अपने पक्ष के समर्थन में जो प्रमाण दिये हैं, वे सभी प्राचीन ग्रन्थों से लिये गये हैं। 'तन्त्रालोक' (३।२२७) की टीका 'विवेक' में अर्ध-निष्पादन के प्रसंग में 'यदेतत् स्त्रियां लोहितं भवत्यग्नेस्तद्रूपम् । तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत । अथ यदेतत् पुरुषे रेतो भवत्यादित्यस्य तद्रूपं तस्मात्तस्मान्न बीभत्सेत' (२।३।७) यह ऐतरेयारण्यक का वचन निर्दिष्ट है । इसी तरह से उन्होंने गुह्यसमाजतन्त्र के षडंगयोग की चर्चा करते हुए लिखा है : "यह अवलोकनीय है कि योगसूत्र में उल्लिखित प्रथम ३ अंगों, यथा यम, नियम एवं आसन को छोड़ दिया गया है और एक नवीन अंग 'अनुस्मृति' को जोड़ दिया गया है (पृ० २९-३०) । इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि यह षडंगयोग विष्णुसंहिता (३०।५७-५८), जैसे पांचरात्र आगम के ग्रन्थों, भगवद्गीता के भास्करभाष्य (पृ० १२७) और तन्त्रालोक (४।१५) में भी वर्णित है । साथ ही नेत्रतन्त्र (मृत्युंजय भट्टारक) जैसे भैरवागम के ग्रन्थ में (८ अधिकार) पातंजल योग के आठ अंग भी स्वीकृत हैं। 'नित्याषोडशिकार्णव' के उपोद्घात (पृ० ११३-११९) में यह विषय विस्तार से चर्चित है । अतः, षडंगयोग की प्रवृत्ति के कुछ अन्य कारण खोजने होंगे ।

६४. द्रष्टव्य : 'शिवपुराणीयं दर्शनम्', 'पुराण', वाराणसी, व० ७, अं० १, पृ० १६२–१६७, जनवरी, १९६५ ई०; 'कालवदनः कालदमनो वा'; 'सारस्वती सुषमा', व० १९, अं० ४, पृ० २५५—३५६, संवत् २०२१; नित्याषोडशिकार्णव, उपोद्घात,

पृ० ५१-५६; इस प्रसंग में चक्रवर्त्ती के दि तन्त्राज़० का 'तन्त्र-स्कूल्स' नामक अध्याय भी द्रष्टव्य ।

६५. धर्मशास्त्र०, पृ० २६ ।

६६. प्रथम भाग, पृ० ४० एवं ७१, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत-ग्रन्थमाला, त्रिवेन्द्रम्, सन् १६२० ई० ।

६७. परात्रिंशिकाव्याख्या, पृ० ६२ ।

६८. यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य, रामानुज के पांचरात्राधिकरण, वेदान्तदेशिक की पांचरात्ररक्षा, भट्टोजिदीक्षित के तन्त्राधिकारिनिर्णय प्रभृति ग्रन्थों में यही प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है ।

६९. धर्मशास्त्र०, पृ० ७७ ।

७०. नवम पटल द्रष्टव्य । यहाँ सर्वप्रथम त्रिपुरा की उपासना वर्णित है ।

७१. सप्तम से द्वादश पटल-पर्यन्त ।

७२. इस प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि 'सौन्दर्यलहरी' के 'चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः' प्रभृति श्लोक में ६४ तन्त्रों के उल्लेख के बाद कहा गया है : 'स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम्' (३१ श्लोक) । यहाँ स्वतन्त्रतन्त्र पद से प्राचीन और आधुनिक विद्वान् ज्ञानार्णव, कादिमत, स्वतन्त्रतन्त्र आदि का उल्लेख करते हैं । नित्याषोडशिकार्णव के उपोद्घात (पृ० १२-१३) में हमने सिद्ध किया है कि यहाँ स्मृत ६५वाँ तन्त्र नित्याषोडाशिकार्णव ही है । इन ६४ तन्त्रों को **लक्ष्मीधर** ने अवैदिक सिद्ध किया है (पृ० १३७-१३८) । भास्करराय इससे सहमत नहीं हैं (नित्या०, सेतुबन्ध, पृ० २४) । द्रष्टव्य : नित्या०, उपोद्घात, पृ० २३-३१ ।

७३. द्रष्टव्य : पृ० ४६ (आनन्दाश्रम-ग्रन्थमाला, पूना, सन् १६२८ ई०-संस्करण ।

७४. ये उभयविध विभाग इस निबन्ध में ऊपर उद्धृत प्रायः सभी ग्रन्थों में मिलते हैं ।

७५. डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय : अभिनवगुप्त, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६७ एवं ५५१ ।

७६. द्रष्टव्य : पृ० ५८, कुलार्णवतन्त्र और तन्त्रराजतन्त्र के 'तन्त्रालोकविवेक' में उद्धृत वचन इन नामों से प्रकाशित ग्रन्थों में नहीं मिलते ।

७७. द्रष्टव्य : भा० १, पृ० ४२-४३ । ७८. दि तन्त्राज़० : चक्रवर्त्ती, पृ० २ ।

७९. तत्रैव, पृ० ४६ । ८०. तत्रैव ।

८१. २८ योगाचार्यों, उनके ११२ शिष्यों एवं १८ आचार्यों की नामावली के लिए द्रष्टव्य : 'शिवपुराणीयं दर्शनम्', 'पुराण', व० ७, अं० १, पृ० १६७–१६९ ।

८२. हिन्दुइज्म०, भा० २, पृ० २०५ में उपागमों की संख्या केवल १२० बताई गई है ।

८३. हिन्दी-अनुवाद और विस्तृत उपोद्घात के साथ यह ग्रन्थ हाल में वाराणसी (मोतीलाल बनारसीदास) से प्रकाशित हुआ है ।

●●

☐ **प्राध्यापक, योगतन्त्र**
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी

तान्त्रिक दर्शन : प्रकृति और सांस्कृतिक सन्दर्भ

☐ डॉ० नवजीवन रस्तोगी

शैव और शाक्त दर्शनों का महत्त्व इसी बात से समझा जा सकता है कि वे केवल एक दार्शनिक विचार-सरणि को ही हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करते, अपितु एक सम्पूर्ण जीवन-धारा या संस्कृति का भी, जिसे कविराजजी के शब्दों में 'तान्त्रिक संस्कृति' कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की एक सशक्त अन्तर्धारा का नाम है तन्त्र या आगम। भारतीय दर्शन जिस प्रकार भारतीय संस्कृति के उत्स का आलेख है, उसी प्रकार शैव और शाक्त दर्शन तन्त्र-संस्कृति के उत्स का।

यह बात संयोग-मात्र नहीं है कि भारत के मानचित्र की रेखाएँ शैव मन्दिरों से बनी हैं। आठवीं शती तक आते-आते श्रीनगर, बदरिकाश्रम एवं केदारनाथ, नेपाल (पशुपतिनाथ), प्रभास, काठियावाड (सोमनाथ), वाराणसी (विश्वनाथ), कलकत्ता (नकुलीश), उज्जैन (महाकाल) और रामेश्वरम् के विख्यात शिवलिंग हमारी लौकिक और आध्यात्मिक जीवनधारा पर अपना पूरा प्रभाव स्थापित कर चुके थे। यह भी संयोग-मात्र नहीं कहा जायगा कि अद्वैतवेदान्त के अनन्य प्रतिष्ठापक आचार्य **शंकर** की दिग्विजय-यात्रा के कीर्त्ति-स्तम्भ-रूप उनके मठों में शिव के ज्योतिर्लिंगों की प्राणप्रतिष्ठा करनी पड़ी, जहाँ आगमोक्त पद्धति से आज भी पूजन होता है। इतना ही नहीं, बदरिकाश्रम की अलकनन्दा के जल से रामेश्वरम् के शिवलिंग का अभिषेक किये बिना एक भारतीय की धार्मिक आस्था आज भी तृप्त नहीं होती।

हमारा प्रयोजन शिव का महिमा-गान नहीं है, परन्तु, यह बताना है कि भारत के वैचारिक और आध्यात्मिक विकास में निगम और आगम-पद्धतियाँ (श्रुति और तन्त्र) इस प्रकार रच-बस गई हैं कि वे मूलतः स्वतन्त्र होने पर भी एक दूसरे के पूरक रूप में हमें आज मिलती हैं। इनमें निगम (वैदिक)-पद्धति पर तो हमें प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है, किन्तु आगम-पद्धति पर बहुत थोड़ा काम हुआ है। भारत के दर्शनों का कोई भी अध्ययन तबतक पूरा नहीं कहा जायगा, जबतक कि इस विचारधारा का भी पूरा लेखा-जोखा न प्रस्तुत किया जाय।

दोनों संस्कृतियों के पारस्परिक अन्तस्सम्बन्ध की चेतना पहले भी रही है। मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार **कुल्लूकभट्ट** दो प्रकार की श्रुतियों का उल्लेख करते हैं—वैदिक और

तान्त्रिक ।[१] उसी प्रकार श्रीकण्ठ अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में दो प्रकार के शैवागमों की चर्चा करते हैं प्रथम वेद, जिसका सम्बन्ध तीन वर्णों से है और द्वितीय तन्त्र, जिसका सम्बन्ध सभी वर्णों से है ।[२] सच पूछा जाय, तो वैदिक और तान्त्रिक संस्कृति का मूल भेद यहीं से प्रारम्भ होता है। वैदिक संस्कृति वर्णाश्रम-व्यवस्थामूलक और पुरुषप्रधान संस्कृति है और तान्त्रिक संस्कृति वर्ण, आश्रम और लिंगभेद की उपेक्षा करके चलती है। चूँकि तान्त्रिक संस्कृति वैदिक संस्कृति की भाँति एक स्थानापन्न लोक-व्यवस्था नहीं दे सकी है, इसलिए वर्णाश्रम-परम्परा और लिंगभेद की यह उपेक्षा दो तरह से की गई है—कहीं पूर्ण निषेध, अस्वीकार या उल्लघंन के द्वारा और कहीं उसके साथ समझौता करके। पहले प्रकार की अभिव्यक्ति 'वाममार्ग' की पद्धति में और दूसरे की 'दक्षिण मार्ग' से हुई है, पर मूल भाव एक ही है। जीवन को उसकी समग्रता (टोटेलिटी) में स्वीकार करना तान्त्रिक संस्कृति का पहला लक्षण है। वैदिक संस्कृति के व्यावृत्तिमूलक (इक्सक्लूसिव) दृष्टिकोण की तुलना में तान्त्रिक संस्कृति के इस दृष्टिकोण को अनुवृत्तिमूलक (इन्क्लुसिव) कहा जा सकता है। मनुष्य के वैयक्तिक (आश्रम), सामाजिक (वर्ण) और आध्यात्मिक व्यक्तित्व (निःश्रेयस्) परस्पर विरोधी नहीं हैं और एक ही चेतना के क्रमिक विकास हैं और इनमें प्रत्येक पक्ष की विभिन्न अवस्थाओं में केवल स्तर-भेद है, गुणात्मक भेद नहीं। यह इस दृष्टिकोण का स्वाभाविक फलितार्थ है। इसका फल यह होता है कि मोक्ष और जीवन क्रमशः स्वातन्त्र्य एवं बन्धन के प्रतीक न होकर जीव की आध्यात्मिक चेतना के पूर्ण और अपूर्ण विकास के प्रतीक बन जाते हैं, पाप और पुण्य केवल दृष्टिभेद-मात्र रह जाते हैं[३] और भोग एवं योग अथवा मोक्ष एक दूसरे के विरोधी न रहकर पूरक बन जाते हैं।[४] इनमें जो गुणात्मक भेद रखती है, उसे ज्ञान की 'विवेकमूला' और इनसे भिन्न दृष्टि को 'सामरस्यमूला' कह सकते हैं। ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र में इसका प्रभाव ज्ञान की अध्यवसानमूला (इतरनिषेधपूर्वक निश्चयन) और अनुसन्धानमूला (इतरग्रहणपूर्वक ज्ञान) प्रक्रियाओं में क्रमशः मिलता है। स्थानाभाव के कारण हम इस चर्चा को यहीं छोड़ते हैं।[५]

दर्शन-ग्रन्थों में, शैव-सम्प्रदायों के सम्बन्ध में सबसे पहला उद्धरण हमें **शंकर** में मिलता है। ब्रह्मसूत्र २।२।३७ (पत्युरसामञ्जस्यात्) में शंकर, जो उपादान और निमित्त कारणों को एक मानते हैं, माहेश्वरों का निमित्तकारणतावादियों के रूप में खण्डनार्थ उल्लेख करते हैं।[७] यह मजे की बात है कि शंकर उसी साँस में वैशेषिकों का भी निमित्तकारणता-वादियों के रूप में उल्लेख करते हैं। यहाँ यह देखने की बात है कि **हरिभद्र सूरि** (सन् ७००–७७० ई०) अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में नैयायिकों और पाशुपतों को एक ही मानते हैं।[८] साथ ही, वैशेषिकों को भी उन्होंने, प्रक्रियागत अन्तर मानते हुए भी, देवता-विषयक दृष्टि से एक ही माना है। 'षड्दर्शनसमुच्चय' के टीकाकार **गुणरत्नसूरि** (१५वीं शती) ने भी इसकी पुष्टि की है। इससे एक बात और साफ हो जाती है कि शंकर के द्वारा माहेश्वरों और वैशेषिकों का उल्लेख एक संयोग ही नहीं है। वैशेषिक और पाशुपत इन दो भिन्न शब्दों के प्रयोग से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि देवताविषयक सतैक्य

होने पर भी पहला जहाँ चर्यापक्ष की प्रधानता को सूचित करता है, वहाँ दूसरा युक्तिपक्ष की। इस बात की पुष्टि **राजशेखर** (सन् ९०० ई०), जो इसी नाम की दूसरी पुस्तक के रचयिता थे, से भी होती है। न्यायदर्शन के लिए वह 'योग' शब्द का प्रयोग करते हैं और उनकी वेश-भूषा, आचार इत्यादि का वर्णन करते हैं और बताते हैं कि वे लोग अपनी भुजाओं में प्राणलिंग धारण किये रहते थे।[९] यदि शैवमत (पाशुपत अथवा वीर-शैवमत) से न्याय और वैशेषिक का यह समीकरण सही है (जैसा कि प्रतीत भी होता है), तो शैवमत की दार्शनिक प्राचीनता के बारे में संशय नहीं रहता। यही नहीं, इस समीकरण से भारतीय दर्शन के इतिहास में कई अनखुले अध्यायों का पता चलने की सम्भावना है।

गुणरत्नसूरि ने अपनी टीका में न्याय-वैशेषिक के चार अवान्तर सम्प्रदायों का उल्लेख किया है : १. शैव, २. पाशुपत, ३. महाव्रतधर और ४. कालमुख :

शैवाः पाशुपताश्चैव महाव्रतधरास्तथा ।
तुर्या कालमुखा... भेदा ऐते तपस्विनाम् ।।
आधार-भस्म-कौपीन-जटा-यज्ञोपवीतिनः ।
स्व-स्वाचारादिभेदेन चतुर्धा स्युः तपस्विनः ।।
(ष० द० स०, वृत्ति, ५९-६०)

शंकर के भाष्य (ब्र० सू०, २२–३७) पर भामती, रत्नप्रभा और आनन्दगिरीय—तीनों ही वृत्तियाँ चार सम्प्रदायों का उल्लेख करती हैं, परन्तु महाव्रतधर और कालमुख[१०] के स्थान पर हमें कारुणिक सिद्धान्तिन् और कापालिक सम्प्रदायों के नाम प्राप्त होते हैं। भामती तो इनके दार्शनिक सिद्धान्तों की भी चर्चा करती है।[११] इस दृष्टि से ये चारों पाशुपतों से अभिन्न हैं।[१२]

शैवदर्शन के इतिहास में शैवों को 'सर्वदर्शनसंग्रह' में **माधव** ने पहली बार आदर दिया है और उनके निजन्धर व्यक्तित्व को उजागर करते हुए उनके सिद्धान्तों की विवेचना की है। ये सिद्धान्त हैं—नकुलीश-पाशुपतदर्शन, शैवदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और रसेश्वर-दर्शन। इस सम्बन्ध में यह बात थोड़ी विचित्र लगती है कि माधव वीरशैव-सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं करते, जबकि वीरशैव का मुख्य केन्द्र दक्षिण रहा है और उसके सबसे महान् प्रतिष्ठापक **वसव** (सन् ११५७–६७ ई०) **माधव** से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व हो चुके हैं। और, इनमें से नकुलीश-पाशुपत-सम्प्रदाय का आधार पाशुपतसूत्र और कौण्डिन्य का भाष्य है, जो राशीकर-भाष्य में एक है। शैवदर्शन, जो शैवसिद्धान्त-मत के लिए प्रयुक्त हुआ है, का विवेचन आगमों और **भोज** के 'तत्त्वप्रकाश' पर आधृत है। प्रत्यभिज्ञादर्शन **सोमानन्द** द्वारा प्रदर्शित कश्मीर का प्रसिद्ध शिवाद्वैतवाद है और रसेश्वरयोग के स्थान पर वारद का आश्रय लेकर मुक्ति तक पहुँचने वाला सम्प्रदाय है। वीरशैवागम में एक स्थल पर कहा गया है : **समुद्रसिकतासङ्ख्यास्समयाःसन्ति कोटिशः ।**' (हस्तलिखित प्रति) यह बात सच

लगती है, जब हम देखते हैं कि **शामेरस** अपनी पुस्तक 'डेर शैव सिद्धान्त' (जर्मन-ग्रन्थ) में, जिसमें वह शिवाद्वयवाद के प्रकार-विशेष का निरूपण करता है, 'शिवज्ञानबोध' की एक टीका के आधार पर पाये गये अनेक शैव-सम्प्रदायों के तमाम भेद वस्तुतः एक ही मुख्य-सिद्धान्त की भंगिमाभेद-मात्र हैं—पाशुपत, वीरशैव और प्रत्यभिज्ञा-सिद्धान्तों को छोड़कर। वह इन सम्प्रदायों को दो वर्गों में रखता है : १. पाशुपत, माव्रतवाद (सम्भवतः महाव्रत), कापालिक, वाम, भैरव, ऐक्यवाद; २. ऊर्ध (ऊर्ध्व)-शैव, अनादिशैव, आदिशैव, महाशैव, भेद-शैव, अभेदशैव, आन्तर शैव, गुणशैव, निर्गुण शैव, अध्वन् शैव, योगशैव, ज्ञानशैव, अणुशैव, क्रियाशैव, नालुपादशैव और शुद्ध शैव। चूँकि इनके दार्शनिक स्वरूप के बारे में हमारा ज्ञान शून्य है, हमें इन वादों की, कम-से-कम इस लेख के लिए, उपेक्षा करनी होगी। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्भवतः शैवदर्शन के अनेक सिद्धान्तों में एक-एक के आश्रय से ये नाम रख दिये गये हैं।

शैवमत के विवेचन के सन्दर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण स्रोत प्रायः छूट जाता है। यह स्रोत है पौराणिक। जब हम शैव विचारधारा के सहज और विविध विकास की कड़ियाँ जोड़ते हैं, तब बिना इस सामग्री का उपयोग किये हमारा अध्ययन अधूरा रह जाता है। पुराणों में प्राप्त सामग्री यद्यपि अद्वैतवाद का शुद्ध स्वरूप तो हमारे समक्ष नहीं रखती, तथापि अद्वैत की दिशा में उसका रुझान स्पष्ट है। 'मार्कण्डेयपुराण' में हमें शाक्त विचारधारा के प्रचुर तत्त्व मिलते हैं और 'शिवमहापुराण' में शैव विचारधारा के। 'दुर्गासप्तशती' मार्कण्डेय-पुराण का ही एक अंश है। इसमें देवी के जिस स्वातन्त्र्ययुक्त और व्यापक स्वरूप की भावना की गई है, उसे 'पैन-थीइज्म' की शब्दावली में व्यक्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण जगत् में वह आत्मशक्ति से व्याप्त है, वह जगत् का आदिकारण है, द्वैत-अद्वैत का सारा प्रपंच उसी में जाकर विश्रान्त होता है।[13] मार्कण्डेयपुराण का दार्शनिक अध्ययन होना अभी शेष है और यह निश्चित कहा जा सकता है कि ऐसी गवेषणा से तान्त्रिक संस्कृति के क्षेत्र में कई गवाक्ष खुलेंगे। शिवमहापुराण सात पुस्तकों या संहिताओं का संग्रह है, जिसमें शैवदर्शन, शैव मिथकों और शिवार्चा के अनेक पक्षों की चर्चा की गई है। यद्यपि शैवदर्शन का आधारभूत ढाँचा अपने बाह्य आकार में पूरे ग्रन्थ में एक जैसा है, तथापि विस्तार में भेद है। विशेष रूप से प्रथम छह संहिताओं और अन्तिम वायवीयसंहिता में शैवमत का विकास दो भिन्न दिशाओं में हुआ है।[14] पहली संहिताओं में से एक कैलाशसंहिता में शैवमत का ग्रहण एक अद्वैतमूलक सम्प्रदाय के रूप में किया गया है।[15] प्रत्येक प्राण की रचना में स्त्री-अंश और पुरुष-अंश की अनिवार्य उपस्थिति हमें ऐसे आदिकारणों की ओर प्रेरित करती है, जिसमें पुरुषांश और स्त्र्यंश समवेत हों। यह आदिकारण ब्रह्म है। इसका प्रथम घटक पुरुष या शिव है, जो प्रकाश-रूप है और दूसरा घटक है प्रकृति या शक्ति, जो शुद्ध चिद्रूपा है। दोनों मिलकर सृष्टि करते हैं, इसी से आनन्द का उद्रेक होता है। इस प्रकार सत्, चित् और आनन्द के अद्वैत में शिव और शक्ति का भी अभेद छिपा है।

इस शक्ति को स्पन्द भी कहा गया है। इच्छा, क्रिया और ज्ञान, ये शिव के तीन पक्ष हैं। शिव-शक्ति के समवाय से पराशक्ति का आविर्भाव होता है, पराशक्ति से चित्-शक्ति का, चित्-शक्ति से आनन्द, आनन्द से इच्छा, इच्छा से ज्ञान और ज्ञान से क्रिया का उद्रेक होता है। स्पन्दन-क्रम में प्रथम तत्त्व को शिव कहा गया है। जीवात्माएँ शिव के स्वरूप का संकोच-मात्र हैं और जगत् शक्ति का विकार है। इस संसारावस्था में पुरुष प्रकृति को कला के राग आदि पंचकृत्यों द्वारा व्यापृत करता है। इन्हें ही अन्यत्र 'पंचकंचुक' कहा गया है। इस प्रकार, यह जगत् और जीवात्माएँ ब्रह्म से एकरूप हैं और इनकी अभिन्नता का बोध ही मोक्ष का कारण है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सारा दर्शन एक प्रकार के अद्वैतवाद का प्रतिपादन करता है, जिसकी रूपरेखा शुद्ध प्रत्ययवादी नहीं है। प्रतिपादन की यह शैली हमें श्रीकण्ठ के भाष्य के कुछ स्थलों की याद दिलाती है, साथ ही काश्मीर शैवमत की स्पन्द-विचारधारा की भी। परन्तु, यह कहना कठिन है कि काश्मीर शैवमत पर यहाँ से प्रभाव पड़ा होगा; क्योंकि इस पुराण का काल लगभग १०वीं शती है, जब काश्मीर शैवमत के मुख्य सिद्धान्तों का विकास हो चुका था।

इसी सन्दर्भ में यह देखना अप्रासंगिक नहीं होगा कि ज्ञान और भक्ति में भेद नहीं किया गया है। यहाँतक कि भक्ति को ज्ञान के लिए आवश्यक माना गया है।[१६] भक्ति से (शि० म० पु०, ४।४१) चारों प्रकार की मुक्ति का मार्ग—सारूप्य, सालोक्य, सान्निध्य और सायुज्य सुलभ हो जाता है। किन्तु, मुक्ति की पंचम कोटि, जिसे कैवल्य-मुक्ति कहा गया है, शिव या उसके वास्तविक ज्ञान से ही सध पाती है। सम्पूर्ण जगत् शिवरूप है, जो कुछ है, शिवस्वरूप है, केवल भ्रान्ति के कारण ही नाना रूप भासित होते हैं। अविद्या के दूर होते ही अहन्ता से उसका संसर्ग छूट जाता है और वह अपने-अपने वास्तविक शिवत्व को प्राप्त कर लेता है।[१७] इस प्रकार, हम देखते हैं कि शिवमहापुराण के इस अंश में प्राप्त अद्वैत का स्वरूप शंकर के अद्वैत-वेदान्त के काफी निकट है, जहाँ अवभासन का नानात्व असत् है, केवल ब्रह्म ही सत् है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि वायवीयसंहिता में शैवमत का रूप इन छह संहिताओं में प्राप्त रूप से भिन्न है। यही नहीं, वायवीयसंहिता के भी दो खण्ड हैं और दोनों में प्रतिपादित विचारों में पर्याप्त भेद है। वायवीयसंहिता का निम्नांकित श्लोक द्रष्टव्य है :

नमः प्रधानदेहाय प्रधानक्षोभकारिणे।
त्रयोविंशतिभेदेन विकृतायाविकारिणे॥ (वा० सं०, ७।१।२।१९)

परम तत्त्व को आदिकारण कहा गया है। प्रधान या प्रकृति उसकी देह बताई गई है और प्रकृति के साम्य को वह भंग करनेवाला है। तेईस तत्त्वों में अपने को व्यक्त करने के बाद भी वह निर्विकार रहता है। जो कुछ भी क्षर और अक्षर रूप में हमें ज्ञात है, वह उसी के संकल्प से अस्तित्व में आया है। जीवात्माओं के विलय के साथ विश्वमाया की भी निवृत्ति हो जाती है।[१८] समग्र जगत् ब्रह्म के द्वारा अनुशासित है और ब्रह्म को केवल

भक्ति से पाया जा सकता है। बीजांकुरन्याय से भक्ति ब्रह्म के अनुग्रह से सम्भव है और ब्रह्मानुग्रह, जो शिवानुग्रह का दूसरा नाम है, भक्ति से। शिव के ध्यान-मनन से व्यक्ति योग की स्थिति में आ जाता है। योग से भक्ति प्रगाढ़ होती है और उससे अनुग्रह। भक्ति और योग के पारस्परिक उपचय से जीव शिव-सम हो जाता है। शिव-साम्य की प्राप्ति ही मोक्ष है, शिवत्व-प्राप्ति नहीं। पति, पशु और पाश में जीवात्माएँ या पशु अक्षर हैं, पाश (मल) क्षर है और पति, अर्थात् शिव इन दोनों से परे हैं। आगे चलकर प्रकृति को क्षर और पुरुष को अक्षर कहा गया है। माया और प्रकृति में अन्तर नहीं किया गया है। माया और पुरुष का संसर्ग व्यक्ति के कर्मानुसार ईश्वर की प्रेरणा से होता है। प्रकृति से होनेवाली अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को 'कला' नाम दिया गया है। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीनों गुण प्रकृति से आविर्भूत होते हैं। सांख्यमतानुकूल प्रक्रिया से यह प्रक्रिया भिन्न है; क्योंकि वहाँ प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम है।

पुरुष या आत्मा यहाँ एक ही है और उपाधि-भेद से भिन्न-भिन्न शरीरों में व्यक्त होता है।[१९] पुरुष-सम्बन्धी यह दृष्टिकोण भी सांख्य, न्याय और शैव सिद्धान्त की धारणा से भिन्न है। वेदान्त की अद्वैतवादी धारणा के अधिक निकट हम अपने को पाते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जीवों के मल स्वाभाविक हैं और शिव जन्म-जन्मान्तर के चक्र के माध्यम से जीवों की मलशुद्धि कर उन्हें उच्चतर पीठिका पर प्रतिष्ठित करता रहता है। चूँकि, यह प्रक्रिया जीवों की कर्मानुपातिनी होती है, इसलिए शिव की इच्छा या अनुग्रह का समरूप प्रसार होने पर भी जीवात्माओं का स्वरूप-विकास समरूप नहीं होता। जीवों के दुःख और कष्ट का कारण विभिन्न जीवात्माओं के मलों के द्वारा किया जानेवाला प्रतिरोध है। यही कारण है कि आवागमन की प्रक्रिया से गुजरे विना शिव के लिए सभी आत्माओं को मुक्त करना सम्भव नहीं हो पाता। अतः, अनुग्रह को यहाँ सामान्य अर्थ में नहीं लिया जा सकता, अपितु एक विशिष्ट अर्थ में। अर्थात्, अनुग्रह का अर्थ है ऐसी परिस्थिति की सृष्टि, जिसमें कार्यों का उपयुक्त फल मिल सके। इस अर्थ में इसकी तुलना योगदर्शन से की जा सकती है, जो ईश्वर के ऐसे नित्य संकल्प को स्वीकार करता है, जो परिणाममूला प्रक्रिया के नियत परिचालन में (परिणामक्रमनियम) इसलिए निरन्तर सक्रिय है, ताकि जगत् बना रहे और पुरुषों के कर्मानुसार मानवीय अनुभवों को एक आश्रय मिल सके। योग इस अर्थ में वायवीयसंहिता की धारणा से भिन्न है कि योगप्रक्रिया दो दिशाओं में चलती है—पुरुष के अपवर्ग और भोग दोनों के लिए। यद्यपि योग में सांख्य की भाँति प्रयोजनशीलता का अधिष्ठान प्रकृति ही है, तथापि गुणों में स्वाभाविक प्रतिरोध होता है, जो उनके विकास या परिणाम में बाधा पहुँचाता है। ईश्वर के नित्य संकल्प की प्रकृति का परिणमन उसी दिशा में होगा, जो जीवों के कर्मों से निर्धारित होगी। प्रकृति का प्रवाह स्वभावतः उसी ओर होता है, जिस ओर से प्रतिरोध हटा लिया गया है। ईश्वर स्वतः प्रकृति को किसी दिशा में प्रेरित नहीं करता।

यह मत, कि जीवात्माएँ स्वभाव से मलयुक्त हैं, जैनों एवं पांचरात्रों में भी पाया जाता है। इस प्रकार से जीवात्माएँ अनादिकाल से मल के आवरण से ढकी रहती हैं। परन्तु, वायवीयसंहिता के दूसरे खण्ड में हमें नितान्त भिन्न दृष्टिकोण मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि ईश्वर ही जीवों को मल, माया आदि के बन्धन में डालता है और उनकी भक्ति के कारण ही उन्हें बन्धनमुक्त भी करता है :

मलमायादिभिः पाशैः स बध्नाति पशून् पतिः ।
स एव मोचकस्तेषां भक्त्या सम्यगुपासितः ॥
(शि० म० पु०,७।२।२।१२)

सांख्य के चौबीस तत्त्व इसी माया की क्रियाशीलता से जन्म लेते हैं। ये तत्त्व विषय कहलाते हैं; क्योंकि ये जीवों को बन्धन में डालते हैं। माया दो प्रकार की है— शुद्ध माया और प्रकृति। पहले से ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र देवता उत्पन्न होते हैं और दूसरी सांख्य की प्रकृति ही है। अन्तर केवल इतना है कि प्रकृति को यहाँ लिंग कहा गया है, जो अपने से अतीत किसी तत्त्व का संकेतन करती है। लौकिक सांख्य में महत् को लिंग और प्रकृति को अलिंग कहा गया है; क्योंकि महत् मूलकारण की ओर निर्देश करता है, जबकि प्रकृति स्वयं मूलकारण है।[२०]

इस दृष्टिकोण में काश्मीर शैवमत की स्वातन्त्र्यवादी धारणा की अनुगूँज स्पष्ट है।[२१] परब्रह्म जिस वस्तु की भी कल्पना करता है, उसे अपनी इच्छाशक्ति से एक सत् पदार्थ के रूप में व्यक्त कर देता है। अतः, जैसे तीनों गुण व्यक्त शक्तियों के रूप में उसमें आविर्भूत होते हैं, वैसे ही सारा विश्व (जो उससे वस्तुतः तद्रूप है; क्योंकि उसी की शक्ति से उसका उद्रेक होता है) उसी में आविर्भूत होता है। शिव की यही शक्ति माया है। इस प्रकार, सारा जगत् शिव-शक्तिरूप है।[२२]

इस संहिता के अनुसार, शैवागम वस्तुतः शिव के द्वारा पार्वती को दिये गये उपदेश हैं। इससे ऐसा लगता है कि शिवमहापुराण के काफी पहले शैव आगम अस्तित्व में आ चुका था और उसी का सार प्रस्तुत करना इस पुराण का लक्ष्य है। शैवागमों के उपदेशों का प्रयोजन, शिव की करुणा के सहारे शिवभक्तों को सर्वोच्च हित की प्राप्ति कराना है।[२३]

व्यावहारिक पक्ष की ओर आने पर हम देखते हैं कि शैवी विद्या के चार पक्ष हैं : ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग। ज्ञान से तात्पर्य है आत्माओं, विषय और परब्रह्म का ज्ञान। क्रिया है गुरु के उपदेश के अनुसार शुद्धीकरण। चर्या है शिवप्रोक्त वर्ण-मर्यादा के अनुसार शिव की सम्यक् सेवा और योग का अर्थ है शिव के चिन्तन को छोड़कर सारी चित्तवृत्तियों का निरोध। यह योग पाँच प्रकार का बताया गया है : मन्त्रयोग, अर्थयोग, भावयोग, अभावयोग और महायोग। शैवयोग की सूक्ष्म प्रक्रिया में गये बिना इतना कहा जा सकता है कि योग की प्रक्रिया मुख्यतः योगदर्शन से ही ली गई है, केवल इतना अन्तर है कि योगदर्शन में चित्त को पहले स्थूल विषयों पर केन्द्रित करना पड़ता है, फिर

विषय या तन्मात्राओं पर, फिर अहंकार पर और अन्त में बुद्धि पर। दूसरी पद्धति है ईश्वर या प्रणव पर चित्त के केन्द्रण की। किन्तु, यहाँ शैवयोग में दूसरी पद्धति का आश्रय लिया गया है, अर्थात् साक्षात् शिव के दैवी स्वरूप के ध्यान का ही विधान किया गया है। यह बताना प्रासंगिक होगा कि पाशुपतयोग की भाँति यहाँ योग की निरुक्ति 'युजिर् योगे' से की गई है, योगदर्शन की भाँति 'युज् समाधौ' से नहीं। इसका फलितार्थ यह है कि वास्तविक योग तभी सम्भव है, जब योग, उसके साध्य और विषय तीनों की समग्रता का बोध हो। अर्थात्, शिव की उपासना करते समय साधक को शक्ति की भी आराधना करनी होगी; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् इन दोनों से ही उद्गत और व्याप्त होता है।[२४]

जिस प्रकार शिव और शक्ति एक युग्म के दो अनिवार्य घटक हैं, उसी प्रकार शैवमत की पूरक विचारधारा है शाक्तदर्शन-परम्परा। **म० म० गोपीनाथ कविराज** के अनुसार, शिव और शक्ति का सम्बन्ध इतना अन्तरंग है कि शैव और शाक्त तन्त्रों की सांस्कृतिक पीठिका एक ही है, न केवल आचार-पक्ष में, अपितु दार्शनिक धारणाओं में भी।[२५] तन्त्र और आगम के स्वरूप पर गवेषणा और चर्चा दोनों का बहुत अवकाश है, परन्तु इस समय हमें इस लोभ से बचना होगा।[२६] आगम के स्वरूप को कम-से-कम प्रतिभात्मक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।[२७]

योगसूत्रों के भाष्यकार व्यास के अनुसार, निर्विकल्पक समाधि से प्राप्त प्रातिभ ज्ञान शब्द के सम्पर्क से सम्प्रेष्य विचार का रूप धारण कर लेता है।[२८] यहीं से वस्तुतः आगम की उत्पत्ति होती है, फिर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के क्रम से वे आगम उत्पन्न होते हैं, जिन्हें साधारण भाषा में आगम के रूप से हम ग्रहण करते हैं। इन आगमों का मुख्य रुझान अद्वैत की ओर है। फिर भी, अन्य दृष्टिकोणों का अभाव नहीं है। **जयरथ** के अनुसार, पारम्परिक दृष्टिकोण से शिव के योगनीवक्त्र से उत्पन्न चौंसठ भैरवागम अद्वैत-मूलक थे और दस शैवागम द्वैतमूलक। इनके अतिरिक्त, जाने कितने और आगम थे[२९], परन्तु इनमें कुछ तो उपलब्ध हैं, कुछ पूर्णतः नष्ट हो गये हैं और कुछ केवल उद्धरणों में उपलब्ध हैं।[३०] दार्शनिक महत्त्व से मण्डित कुछ तन्त्रों के नाम इस प्रकार हैं : स्वच्छन्द, मालिनीविजय, कामिक, मृगेन्द्र, विज्ञानभैरव, त्रिशिरोभैरव, कुलगह्वर, आगमरहस्य और अभेदकारिका इत्यादि।

प्रत्येक आगम चार पादों में विभक्त है, जिनमें ज्ञानपाद के अन्तर्गत दार्शनिक समस्याओं का विश्लेषण किया गया है। यद्यपि सभी तन्त्रों में शंकाओं और उनके समाधानों में पर्याप्त अन्तर है, तथापि सांस्कृतिक विरासत की एकता का पूरा आभास मिल जाता है। इस दृष्टि से तन्त्रों के पुनर्वर्गीकरण की आवश्यकता है।[३१]

शाक्त-सम्प्रदायों में श्रीविद्या की परम्परा में बड़ा विपुल साहित्य उपलब्ध है। काली-सम्प्रदाय में भी पर्याप्त साहित्य मिलता है। यद्यपि दोनों सम्प्रदाय अलग-अलग शक्तियों की उपासना करते हैं, तथापि इनमें आन्तरिक सम्बन्ध है। अगस्त्य, दुर्वासा और

दत्तात्रेय श्रीविद्या-सम्प्रदाय के मुख्य आचार्य हैं। अगस्त्य एक 'शक्तिसूत्र' और 'शक्ति-महिम्नःस्तोत्र' के रचयिता बताये जाते हैं। इनमें स्तोत्र का दार्शनिक महत्त्व है। तन्त्र-सम्प्रदाय में दुर्वासा की बड़ी महिमा है। कहा जाता है कि श्रीकण्ठ (शिव) ने दुर्वासा को आगम-प्रचार की आज्ञा दी, तो उन्होंने तीन मानसपुत्रों[३२] क्रमशः त्र्यम्बक[३३], श्रीनाथ और अमर्दक की सृष्टि कर तान्त्रिक दर्शन की सभी दिशाओं—द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत—में मठिकाओं की स्थापना कर उनसे तन्त्रविद्या का प्रचार कराया। दुर्वासा 'परशम्भुस्तोत्र' और 'ललितास्तवरत्न' के रचयिता कहे जाते हैं। परम्परा के अनुसार, दत्तात्रेय १८००० श्लोकोंवाली 'दत्तसंहिता' के रचयिता कहे जाते हैं, जिस प्रकार परशुराम ने सम्भवतः सूत्र लिखे। इन्हीं संहिता और सूत्रों का संक्षिप्त रूप **सुमेधस्** ने 'त्रिपुरारहस्य' के रूप में किया। इस ग्रन्थ का ज्ञानखण्ड शाक्तज्ञानमीमांसा और तत्त्वदर्शन के अध्ययन के लिए एक महत्त्व-पूर्ण कृति है। परम्परा आचार्य शंकर और श्रीविद्या का सम्बन्ध जोड़ती है। शंकराचार्य के परम गुरु गौडपाद ने 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' नामक एक सूत्रग्रन्थ लिखा था। इनकी दूसरी कृति 'सुभगोदयस्तुति' और शंकर की 'सौन्दर्यलहरी' शाक्त-सम्प्रदाय की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। शंकर-कृत 'प्रपंचसार' और उसपर पद्मपाद की टीका, इसी प्रकार 'दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्र' और उसपर सुरेश्वर का वार्त्तिक तथा 'प्रयोगक्रमदीपिका' आकर-ग्रन्थ माने जाते हैं।[३४] **लक्ष्मण-देशिक** का 'शारदातिलक' (जिस प्रकार 'राघवभट्ट' की पदार्थादर्श टीका है) भी इसी प्रकार का महत्त्वपूर्ण आकर-ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में विचित्र बात है कि यह **लक्ष्मणदेशिक** लक्ष्मणगुप्त ही हैं, जो **अभिनवगुप्त** के गुरु थे और जिनका सादर उल्लेख अभिनवगुप्त ने 'श्रीशास्त्रकृत्' के रूप में किया है।[३५] वस्तुतः, यह श्रीशास्त्र शारदातिलक-तन्त्र के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह और भी मनोरंजक बात है कि सोमानन्द शाक्त अद्वयवादियों को, जिनका खण्डन उन्होंने शिवदृष्टि में किया है (स्वयूथ्यानद्वयवादिनः प्रतीदानीमारम्भः), अपना ही भाई-बन्धु मानते हैं। इस क्रम में अभिनवगुप्त आते हैं और यह नाम ऐसा है, जिसे शैव और शाक्त दोनों क्षेत्रों में असामान्य आदर प्राप्त है। वह परमशैव भी हैं और परमकौल भी। उनका 'तन्त्रालोक' शैवशाक्तदर्शन का विश्वकोश है। अभिनवगुप्त के शिष्य **क्षेमराज** की प्रसिद्ध कृति 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' को त्रिपुरा-ग्रन्थों में 'शक्तिसूत्र' के नाम से ही उद्धृत किया गया है। यह भी शैवशाक्तसमीकरण की प्रक्रिया का एक दृष्टान्त है। क्षेमराज के बाद हमें गोरक्ष, पुण्यानन्द, नटनानन्द, अमृतानन्द आदि आचार्यों के नाम मिलते हैं, जिनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। **पुण्यानन्द** का 'कामकलाविलास' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। **अमृतानन्द** की 'योगिनीहृदयदीपिका' तन्त्र-संस्कृति का अत्यन्त आदरणीय ग्रन्थ है। **स्वतन्त्रानन्द** का 'मातृकाचक्रविवेक' भी अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। परवर्त्ती काल में 'नित्याषोडशिकार्णवतन्त्र' पर ऋजुविमर्शिनीकार **शिवानन्द** और सेतुबन्धकार **भास्कर राय** का महत्त्व अप्रतिम है।

इसी प्रकार, काली-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में कालज्ञान, कालोत्तर, महाकालसंहिता, व्योमकेशसंहिता, जयद्रथयामल, उत्तरतन्त्र और शक्तिसंगमतन्त्र का उल्लेख किया जा

सकता है। यह बात ध्यान रखने की है कि यह काली-सम्प्रदाय काश्मीर शिवाद्वयवाद की अवान्तर शाखा से भिन्न है, जो 'क्रमदर्शन' के नाम से विख्यात है (जिसकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे) और जो काली या कालसंकर्षिणी को परम तत्त्व मानता है।

अब यह उचित होगा कि हम शैवमत के विभिन्न सम्प्रदायों के मूल आधारभूत सिद्धान्त का, जिसपर वे प्रायः सहमत हैं, आकलन कर लें।

शैवमत वेदान्त की भाँति ज्ञानप्रधान न होकर साधना-प्रधान है। यह साधना उपासना की ज्ञानमूलक पद्धति से भिन्न है और समग्रतामूलक है, अर्थात् यहाँ ज्ञान और भक्ति में विरोध नहीं माना जाता। तात्पर्य यह है कि दोनों में पहला जहाँ परब्रह्म के चिदंश से उद्गत होता है, वहाँ दूसरा आनन्दांश से। समग्रता की अभिव्यक्ति आगम के अंगचतुष्टय—ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या के माध्यम से भी होती है, अर्थात् दर्शन, धर्म, आचारशास्त्र और साधना सब इस अर्थ में एक समष्टि का निर्माण करते हैं कि सबका लक्ष्य शिवता की प्राप्ति है।

जगत् की भौतिक परिकल्पना को लेकर सांख्य और योग का प्रभाव स्पष्ट है। भारतीय दर्शनों में सृष्टिप्रक्रिया और पदार्थ-निरूपण के तीन मुख्य सिद्धान्त दिखाई पड़ते हैं—सांख्य, वैशेषिक और न्याय। तन्त्रों ने अपने तत्त्वदर्शन के अनुरूप परिवर्त्तन करके सांख्य की मूल तत्त्वयोजना को अपना लिया है। इस प्रकार, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्र, पंचमूल आदि सभी अन्तर्भुक्त हुए हैं। किन्तु, इसमें कुछ का ग्रहण तो सांख्यशैली में हुआ है और कुछ का योगपद्धति पर; क्योंकि परिवर्त्तन की प्रक्रिया को एक अन्धी नियति के अधीन न मानकर ईश्वर की इच्छा से अधिष्ठित माना गया है। यह अभ्युपगम आंशिक इसलिए है कि प्रकृति, पुरुष और ईश्वर का स्वरूप भिन्न न होकर एक ही है। यह एकता दो प्रकार से निगमित की गई है। एक तो आश्रित माया के सिद्धान्त को अपनाकर, अर्थात् माया और चित्-तत्त्व के एकीकरण के द्वारा। वेदान्त में माया और चित्-तत्त्व में भेद बना रहता है। यह घटना कुछ वैसी ही है, जैसे **देकार्त** के द्वैताभास की कठिनाई को बचाने के लिए स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद (पैन-थीइज्म) के रूप में उसकी पुनःकल्पना। **काण्ट** को भी प्रतीयमान (फेनामेनन) और आत्मतत्त्व (नाउमेनन) में कठिनाई प्रतीत हुई थी और इनके बीच की खाई को भरने के लिए उसने 'क्रिटिक ऑव प्रैक्टिकल रीजन' और 'क्रिटिक ऑव जजमेण्ट' में काफी प्रयास किया, पर उसे सन्दिग्ध सफलता ही मिल पाई। विषयी और विषय या पुरुष और प्रकृति या माया की एकता को घटित करने का दूसरा प्रयास हुआ है सांख्य के सदृश परिणाम की प्रक्रिया के विस्तार द्वारा, जो वस्तुतः बाह्यरूप, अर्थात् विसदृश परिणाम के रूप में बाह्यरूप से आभासित हो रहा है, वह विसदृश न होकर वस्तुतः ईश्वर का अपने ही शरीर में सदृश परिणमन है। इसे ही काश्मीर शिवाद्वयवाद से स्पन्द और आभास की द्विविध शब्दावली द्वारा व्यक्त किया गया है। ईश्वर के आत्मशरीर में होनेवाले इस सदृश परिणमन से विवर्त्त और परिणाम दोनों हा सध जाते हैं—पदार्थ बाह्यतया भासित होकर भी बाह्य नहीं है और प्रतिभासित होकर

भी सत् है और मूलकारण से एकरूप है,[३६] अर्थात् बाह्य दृष्टि से जो काल में होनेवाला आभासन है, वही आन्तरिक दृष्टि से कालातीत परम सत् के स्वरूप में होनेवाला परिवर्त्तन है।

इससे दूसरा एक महत्त्वपूर्ण अन्य निष्कर्ष यह निकलता है कि शैवदर्शन में सत् की जो धारणा की गई है, वह वस्तुतः एक गतिशील सत् की धारणा है। योगसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार व्यास ने दो प्रकार की नित्यता का उल्लेख किया है : कूटस्थ नित्यता और परिणामिनित्यता। कूटस्थनित्यता पुरुष का स्वरूप है और परिणामिनित्यता प्रकृति का। कूटस्थता और परिणामिता की इन भिन्नध्रुवीय धारणाओं का समन्वय हमें परम सत् या शिव के स्वरूप में मिलता है। शिवांश में सत् कूटस्थ है और शक्त्यंश में परिणामी—दोनों का तादात्म्य यथार्थ है।[३७] दासगुप्त तन्त्रों के इस पक्ष को 'मूर्त्त प्रत्ययवाद' (कांक्रीट आइडियलिज्म) कहते हैं, जो योगाचार के 'विशुद्ध विज्ञानवाद' और शंकर के 'निरपेक्ष प्रत्ययवाद' से भिन्न है।[३८]

इन दोनों के पारस्परिक ध्रुवों के बीच खाई को वस्तुतः एक दार्शनिक तरीके से पाटा गया। इस प्रकार, हम पाते हैं कि शिव प्रकाशरूप, अर्थात् शुद्ध चिन्मात्र हैं और शक्ति विमर्श, अर्थात् उस चिन्मात्र की अन्तर्निहित गतिशीलता या क्रिया है। चेतना और उसकी आन्तरिक गतिमत्ता एक दूसरे से भिन्न नहीं की जा सकती। इन दोनों की एकता को समझने के लिए महत् या बुद्धि और पुरुष के तादात्म्य की सांख्यप्रक्रिया का ही आश्रय लिया गया है। जब महत् या बुद्धि सत्त्वगुणमयी होने के कारण शुद्ध होती है और पुरुष भी शुद्धचित् के रूप में प्रकाशमय होता है, तब दोनों एक दूसरे को प्रतिबिम्बित करते हैं और तादात्म्यापन्न होते हैं। किन्तु, दोनों चूँकि भिन्न हैं, इसलिए यह तादात्म्य भ्रान्त और विश्व-प्रक्रिया के उद्भव का कारण है। परन्तु, यहाँ प्रकाश का विमर्श में प्रतिबिम्ब पड़ता है, जो प्रकाश के वास्तविक स्वरूप को प्रतिबिम्बित करता है। प्रकाश अपने शुद्ध चिन्मात्र-स्वरूप को तभी ग्रहण करता है, जब वह अपनी ही क्रियाशक्ति या विमर्श के द्वारा प्रतिबिम्बित हो पाता है। अपोद्धृत (ऐब्स्ट्रैक्ट) विचार का अपना कोई रूप नहीं। अपना स्वरूप तभी व्यक्त होता है, जब वह अपनी ही शक्ति से अपनी ओर उन्मुख होता है। तभी वह अपने को अहन्तया ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार, सत् की इस चेतनामयी यात्रा का पहला बिन्दु है प्रकाश—शुद्ध चिन्मात्रता; दूसरा है विमर्श—चेतना की आत्मनिष्ठ सक्रियता; और तीसरा है इन दोनों का तादात्म्य-प्रकाश का विमर्श के माध्यम से अहन्तया प्रत्यावर्त्तन। वेदान्त में अहं ब्रह्म और माया के तादात्म्य से उपजता है, पर वहाँ माया के असत् होने के कारण दोनों का तादात्म्य भी असत् हो जाता है, परन्तु यहाँ विमर्श की धारणा प्रकाश की धारणा में निहित है, अतः दोनों की एकता सध जाती है। इसलिए, यह द्वैतवाद और एकत्ववाद का समन्वय है और इस समन्वय का प्राणतत्त्व है स्पन्द (एलान) के रूप में प्रत्यय की धारणागत प्रक्रिया।[३९]

तन्त्रों में यह एकता एक अन्य द्वार से भी लाई गई है। तन्त्रों में षडध्व—छह मार्गों—की धारणा द्वारा शक्ति के जागतिक प्रवाह की दो दिशाओं का निर्देश किया गया है—

शाब्दी धारा और आर्थी धारा। मन्त्र, पद और वर्ण ये शब्दप्रवाह के स्थूल, सूक्ष्म और पर सोपान हैं और भुवन, तत्त्व और कला आर्थ प्रवाह के। यद्यपि अपने मूल रूप में यह धारणा शैवतन्त्रों से ली गई है, तथापि इसपर मीमांसा और भर्तृहरि का प्रभाव स्पष्ट है। मीमांसा में भी शब्द नित्य हैं, किन्तु उसे वाच्य बनाने में एक कर्त्ता या व्यापार की आवश्यकता होती है। भर्तृहरि में यह शाब्दी चेतना अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से व्यापारशील होकर अर्थभाव से विवर्त्तित होती है। अर्थभाव को विवर्त्त-रूप में लेना (यद्यपि यह शांकर विवर्त्त की धारणा से एक नहीं है, तथापि अर्थभाव की गौणता स्पष्ट है) इसे तन्त्र की विचार-पद्धति से थोड़ा अलग कर देता है। तन्त्र में जो प्रक्रिया निखिल सृष्टि में अन्तर्निहित है, वही शब्द के आविर्भाव में भी। अतः, यहाँ शब्द की आविर्भाव-प्रक्रिया काल्पनिक नहीं है, बल्कि सृष्टि-प्रक्रिया का वास्तविक प्रतीक है। मीमांसा में शब्द और अर्थ अचेतन हैं। अतः, नित्य शब्द अर्थ से रहित है। किन्तु, तन्त्र के अनुसार, यह शक्ति या चेतना का सामर्थ्य है, जो शब्द और अर्थ दोनों रूपों में अपने को चरितार्थ करती रहती है। वर्णसृष्टि या मातृकाओं पर तन्त्रों में जो आग्रह दिखाया गया है, उसका कारण यही है : **शिवशक्तिमयान् प्राहुस्तस्माद्वर्णं मनीषिणः।**

ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, जो वाक् की किसी-न-किसी अवस्था—स्थूल या सूक्ष्म—से अभिन्न न हो। वाक् या शब्द ऐसी एकमात्र ज्ञानात्मक स्थिति है, जिसमें हमें वास्तविक विषयी की चेतना रहती है। साथ-ही-साथ, हमें समान रूप से उसकी भी चेतना रहती है, जो विषय है, अर्थात् जो अर्थ है। इस अर्थ का बोध वाक् के ही व्यापार के रूप में होता है, उसके तात्पर्य के रूप में, न कि ऐसी वस्तु के रूप में, जो हमें पहले से ज्ञात है। क्योंकि, प्रत्येक ज्ञान शब्द है। वाणी की शुद्धता की कई अवस्थाएँ हैं—प्रत्येक चरण पर वह अपने को, अपने सहचारियों—शब्द, बिम्ब, मानस-प्रतिमा आदि—से अलग करती रहती है और प्रत्येक उच्चतर स्तर पर अपने से निम्नतर स्तर के सत्त्व या प्राण के रूप में अपने को व्यक्त करती है। तथापि, प्रत्येक स्तर पर इसकी आत्मोत्तीर्णता—अर्थ, तात्पर्य—बनी रहती है। इसलिए, सूक्ष्मतम वाक् (परा वाक्), जो निस्सन्देह शुद्ध विषयि-रूप या आत्मरूप या अहन्ता है, में भी अनिवार्य आत्मोत्तीर्णता—अपने से परे का संकेतन, जो परविषयता या इदन्ता का सूक्ष्मतम रूप है, छिपाये रहती है।[४०]

कालिदास भट्टाचार्य[४१] ने सृष्टि के इस शब्दार्थ-प्रवाह से कतिपय महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। उनका कहना है कि पश्चिम के प्रागनुभववादी (ए-प्रिओरिस्टिक) चिन्तकों ने जिसे 'विचार' कहा है, उसे ही भारतीयों ने शुद्ध वाक् या परा वाक् कहा है। यह शुद्ध वाक् स्वतन्त्र और भूमा है। यह शुद्ध इस अर्थ में है कि स्थूल ध्वनियाँ, जो कि बोलनेवाली भाषा (वैखरी वाणी) का स्वरूप बनाती हैं और मानस-प्रतिमाएँ, जो इसके बोले जाते समय चित्त में रहती हैं, मात्र आगन्तुक या आकस्मिक ही नहीं है। ये ध्वनियाँ और मानस-प्रतिमाएँ, यहाँतक कि जगत् के ठोस पदार्थ, शुद्ध वाक् या भाषा के स्वधनता-पादन, या स्व-मूर्त्तन के भाव हैं। शब्दों का न तो अन्वयगत अर्थ है और न अभिधानगत।

अपितु, यह कि 'क' शब्द का अर्थ 'ख' वस्तु है, यह बात अवश्य व्यवहार पर निर्भर करती है; परन्तु एक शब्द 'किसी' पदार्थ का संकेतन करता है, यह निश्चित ही आदिसिद्ध (ए-प्रिओरी) है।[४२] यह अर्थ तथ्यों की प्रागनुभवमूलक सम्भावना ही तो है, ये तथ्य शुद्ध शब्द से स्वतन्त्र या पृथक् नहीं है, अतएव इन अर्थों को भी प्रागनुभविक कहा जाना चाहिए।[४३] शुद्ध वाक् का यह अर्थ और वाक्यगत अध्ययन पद और विचार (टर्म्स ऐण्ड जजमेण्ट) के परम्परागत पश्चिमी तर्कशास्त्र से मिलता-जुलता है। पर, यह याद रखने की बात है कि शुद्ध वाक् का यह विश्लेषण यहाँ तत्त्वदर्शन के सन्दर्भ में हुआ है, उससे निरपेक्ष रहकर नहीं।

शब्दार्थ की भाँति तन्त्र एक और पर्याय या समानान्तरवाद का उल्लेख करता है। अणु और भूमा, पिण्ड और ब्रह्माण्ड या व्यष्टि (माइक्रोकॉज्म और मैक्रोकॉज्म) एक दूसरे के पर्याय या प्रतियोगी हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के तादृ्प्य की यह धारणा हमें सबसे पहले आयुर्वेद में मिलती है। चरक का विश्वास था कि आदि मनुष्य का स्वभाव और विकास जगत् के विकास के समान है। परिणाम, अर्थात् उत्पत्ति, विकास तथा ह्रास के जिस नियम से जगत् अनुशासित है, उसी से जीव भी। सत्त्वगुण और रजस्, जो जागतिक संरचना के कारण हैं, वही वैयक्तिक संरचना के भी। तन्त्र इससे भी आगे बढ़ा और इसीलिए उसने व्यक्ति और शिव को एक स्वीकार किया। इसी प्रक्रिया के विस्तार द्वारा योगी और परमशिव के समीकरण का आश्रय लेकर यह प्रतिपादन किया गया कि जब व्यक्ति अपने को जान जाता है, तब वह विश्व को जान जाता है। इस प्रकार, इस सारूप्य या पर्यायता का उपयोग केवल ज्ञान के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु क्रिया और अस्तित्व के क्षेत्र में भी किया गया।

तान्त्रिक दर्शन की एक सर्वमान्य विशेषता यह भी है कि यहाँ अज्ञान को मल के रूप में ग्रहण किया गया है। आवरक तत्त्व को अविद्या या माया कहा जाना केवल अन्य दर्शनों की शब्दावली स्वीकार कर लेना है। चेतना के प्रकाशमय स्वरूप में मल कोई विकार नहीं उत्पन्न कर पाता, केवल उसके स्वरूप या प्रकाशन को ढक लेता है, अतः मलापसारण को ही आत्मज्ञान कहा गया है। इसी धारणा के और विस्तार द्वारा प्रभा को भी मोहापसारण-मात्र ही माना गया है। मलों की यह धारणा सम्भवतः भर्तृहरि या व्याकरण-सम्प्रदाय की देन है। वहाँ प्रायः तीन मल स्वीकार किये गये हैं—कायमल, वाङ्मल और बुद्धिविषयक मल। चिकित्सा, व्याकरण और अध्यात्म इनसे क्रमशः ये मल दूर होते हैं।[४४] तन्त्रों की अपनी भाषा में इन्हें आणव, मायीय और कार्म मल कहा गया है। अन्य दर्शनों में जो काम माया करती है, वही यहाँ आणव करता है—हमारे अनवच्छिन्न व्यक्तित्व को कुण्ठित और संकुचित कर व्यक्ति या अणु के रूप में व्यक्त करना। मायीय और कार्म आनुषंगिक मल हैं और क्रमशः जागतिक व्यवहार और आवागमन की व्याख्या करते हैं।

शैव और शाक्त दर्शनों की मूल प्रकृति को हृदयंगम करने के लिए इतना विवेचन पर्याप्त जान पड़ता है। यद्यपि शैव और शाक्त सम्प्रदायों का जाल पूरे देश में फैला है,

तथापि प्रचलित सम्प्रदायों को, भौगोलिक दृष्टि से, दो मुख्य सम्प्रदायों—उत्तर शैवमत और दक्षिण शैवमत—में बाँटा गया है।[४५] उत्तरी शैवमत में काश्मीर शैवमत आता है और अन्य सम्प्रदाय दक्षिण में। इस प्रकार, दक्षिण शैवमत का फलक ज्यादा व्यापक है; क्योंकि शैवसिद्धान्त, लकुलीश-पाशुपत और वीरमत, श्रीकण्ठ का विशिष्टाद्वैत और पाशुपत सभी दक्षिण के अन्तर्गत आते हैं। यह भौगोलिक वर्गीकरण सिद्धान्तों के गुणात्मक वैशिष्ट्य का परिचायक नहीं बन पाता, सिवाय इसके कि काश्मीर शैवमत (शाक्त भी) की प्रवृत्ति अद्वैत-प्रधान है, जबकि अन्य सम्प्रदायों की दृष्टि में द्वैत का संस्पर्श हट नहीं पाता। इस दृष्टि से अद्वैत की प्रवृत्ति अधिक-से-अधिक विशिष्टाद्वैत तक ही जा पाती है। परन्तु, इस मन्तव्य की एक सीमा है और उसे लाँघकर इस प्रकार की धारणा का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। क्योंकि, जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, कश्मीर के अद्वयवाद की एक शाखा-क्रम का चौल (दक्षिण) में खूब पल्लवन हुआ और सिद्धान्त-शैवमत (द्वैत) की, जिसकी अंकुरभूमि दक्षिण रही है, एक समानान्तर शाखा कश्मीर में पनपी है। इसी प्रकार, दक्षिण में पनपनेवाली त्रिपुरा-उपासना का महत्त्वपूर्ण केन्द्र कश्मीर रहा है और **शिवानन्द** जैसे कुछ प्रसिद्ध तान्त्रिक आचार्यों ने उस दर्शन का उदय कश्मीर में ही माना है।[४६] अतः, भौगोलिक वर्गीकरण की इस सीमा का ध्यान रखना होगा।

इस प्रसंग में यह याद रखना भी उचित होगा कि शैवों का वैचारिक आन्दोलन अपनी प्रकृति और विकास में वेदान्त-आन्दोलन के समानान्तर रहा है। यही कारण है कि वेदान्त के इतिहास में मिलनेवाले तमाम वाद यहाँ भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यहाँ जिस आश्चर्यजनक विविधता के दर्शन होते हैं, वह इन सम्प्रदायों से भली भाँति स्पष्ट है : १. पाशुपत द्वैतमत २. सिद्धान्त शैव द्वैतमत, तदन्तर्गत काश्मीर शैव द्वैतवाद, ३. लकुलीश पाशुपत का द्वैताद्वैत-मत; ४. श्रीकण्ठ का शैव विशिष्टाद्वैत, ५. वीरशैवों का शुद्ध द्वैताद्वैत अथवा श्रीकण्ठ-सम्मत विशेषाद्वैत, ६. नन्दिकेश्वर का अद्वैत शैवमत, ७. रसेश्वर अद्वैत-मत और ८. काश्मीर शिवाद्वयवाद।[४७] विस्तार-भय से यहीं तक।

सन्दर्भ :

१. द्विधा च श्रुतिः वैदिकी तान्त्रिकी च।

२. (क) अतः शैवागमो द्विविधः, त्रैवर्णिकविषयस्सर्वविषयश्चेति। वेदः त्रैवर्णिकविषयः। सर्वविषयश्चान्यः। उभयोरेक एव शिवः कर्त्ता।—ब्र० सू०, २।२।३७ पर श्रीकण्ठभाष्य।

(ख) तत्र भेदप्रधानानि वेदादीनि शास्त्राणि, अभेदप्रधानानि च शैवादीनि। जयरथ, तन्त्रालोक, ४।२५२ पर विवृति।

३. यः पापपुण्यहेतुत्वेन मम पूर्वं प्रसिद्धो नीलसुखादिभावः स एव मोक्षसाधनमिति।—भास्करी, १, पृ० ४०।

४. भोगमोक्षसामरस्यात्मा मोक्षः।

५. विस्तार के लिए द्र०, भारतीय संस्कृति और साधना : म० म० गोपीनाथ कविराज़, पृ० ५; फिलॉसफीज ऑव इण्डिया : ज़िमर, पृ० ५७२-७३; काण्ट्रिब्यूशन ऑव कश्मीर टु फिलॉसफी : थॉट ऐण्ड कल्चर : नवजीवन रस्तोगी का लेख; एनल्स ऑव भाण्डारकर ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् १९७४-७५ ई०, अंक ६६; काश्मीर शैविज्म : एल्० एन्० शर्मा, प्रथम अध्याय ।

६. शैवमत की चर्चा करते समय एक ओर हमारा ध्यान श्वेताश्वतर उपनिषद् की ओर और दूसरी ओर सिन्धु घाटी की सभ्यता से सम्बद्ध मोहनजोदड़ो तथा हड़प्पा-उत्खनन में प्राप्त महायोगी की मुद्रा में त्रिनेत्रयुक्त प्रतिमा की ओर जाना स्वाभाविक है । श्वेताश्वतर में हम रुद्र के स्वरूप-विकास के दार्शनिक अंकुरण की पीठिका पर अपने को पाते हैं । **रानाडे** के अनुसार, ईश्वर की दोनों—ऐश्वर्यवादी और तटस्थतावादी (थीइस्टिक ऐण्ड डीइस्टिक) धारणाएँ हमें यहाँ प्राप्त होती हैं । पति, पशु और पाश एवं शक्ति और शक्तिमान् के घनिष्ठ सम्बन्ध की भी धारणाओं का बीज यहाँ उपलब्ध हो जाता है । (ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी, चतुर्थ अध्याय) परन्तु, इसके साथ यह भी सच है कि श्वेताश्वतर में हमें वेदान्त, सांख्य और योग की अनेक धारणाएँ एक दूसरे में गुँथी मिलती हैं और सम्प्रदाय-विशेष से उनके सम्बन्ध का निर्भ्रान्त विश्लेषण कठिन हो जाता है । जहाँतक सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त सामग्री का सवाल है, उसके निष्कर्षों के बारे में काफी मतभेद है । इस सम्बन्ध में **दासगुप्त** (ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी, भाग ५, पृ० १५५) का यह मन्तव्य मननीय है : 'कुछ लोगों का कहना है कि शैवमत का प्राचीनतम रूप ही दक्षिण भारत का प्राचीन प्रागैतिहासिक धर्म है । किन्तु, मुझे कोई प्रमाण नहीं मिला है, जिससे एक पहले से वर्त्तमान आर्यपूर्व द्रविड-धर्म का सही स्वरूप दिखाया जा सके और जिसका उसके साथ तादात्म्य बताया जा सके, जिसे आज हम शैवमत के नाम से जानते हैं । यह बात अब भी बड़ी सन्दिग्ध है कि आर्यपूर्व द्रविडों के दर्शन का कोई क्रमबद्ध स्वरूप था, जो दूसरे आदिवासियों के फिरकों के धर्म से पृथक् था ।' (मूल अँगरेजी-उद्धरण लेखक द्वारा हिन्दी में अनूदित) ।

७. 'माहेश्वरास्तु मन्यते—कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिनेश्वरेण पशुपाशविमोक्षणायोपदिष्टाः पशुपतिरीश्वरो निमित्तकारणमिति । तथा वैशेषिका-दयोऽपि—कञ्चित्कथञ्चित् स्वप्रक्रियानुसारेण निमित्तकारणमीश्वर इति ।' **दासगुप्त** यहाँ माहेश्वर का अर्थ पाशुपतों से लेते हैं (ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी, भाग ५, पृ० १५५) और पाशुपत और नकुलीश-पाशुपत को एक ही सम्प्रदाय मानते हैं । (तत्रैव, पृ० ५) **श्रीकान्तिचन्द्र पाण्डेय** भी इसे पाशुपत मत का ही संकेत मानते हैं, पर वह इसे लकुलीश-पाशुपत से भिन्न मानते हैं । उनकी दृष्टि में यद्यपि दोनों मतों के पाँच तत्त्व एक ही हैं, तथापि पाशुपत

दृष्टि द्वैतप्रधान है, जबकि लकुलीश-पाशुपत की द्वैताद्वैतप्रधान। (द्र० भास्करी, भाग ३, भूमिका, पृ० ९)

८. 'नैयायिकं पाशुपतदर्शनम्, तत्र न्यायः प्रमाणमार्गस्तस्मादपेतं नैयायिकमिति व्युत्पत्तिः।... वैशेषिकं काणाददर्शनम्, दर्शनदेवतादिसाम्येऽपि नैयायिकेभ्यो द्रव्य-गुणादिसामग्र्या विशिष्टमिति वैशेषिकम्।'—षड्दर्शनसमुच्चय, श्लो० ३ पर मणिभद्र-कृत (सन् १३३५ ई०) लघुवृत्ति, पृ० ४; और देखिए श्लो० ५९१ : 'अथ योगमतं ब्रूमः शैवमित्यपराभिधम्।'—ष०द०स० (राजशेखर, वाराणसी, द्वितीय संस्करण), पृ० ८।

९. द्र० भास्करी, भाग ३, भूमिका, पृ० १२। यहाँ ध्यान देने की बात है कि प्राणलिंग का धारण करना वीरशैवों की चर्यापद्धति का अनिवार्य अंग है और इस आचार का पालन आजतक होता है।

१०. भाण्डारकर कालमुख और महाव्रतधर को एक मानते हैं। द्र० 'वैष्णविज्म शैविज्म ऐण्ड माइनर रिलीजियस सिस्टम्स' (सन् १९२९ ई०), पृ० १६८। **दासगुप्त** ने इस मत के आधार की आलोचना की है (दासगुप्त, उपर्युक्त हिस्ट्री, पृ० २)। ये चर्याप्रधान सम्प्रदाय हैं। विस्तार के लिए द्र० भाण्डारकर, दासगुप्त, पाण्डेय तथा 'इन्साइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन' में 'शैविज्म' शीर्षक **फ्रेजर** का लेख।

११. 'कारणमीश्वरः। कार्यं प्राधानिकं महदादि। योगोऽप्योङ्कारादिध्यानधारणादिः। विधिस्त्रिषवणस्नानादिगूढचर्यावसानः दुःखान्तो मोक्षः। पशव आत्मानस्तेषां पाशे बन्धनं तद्विमोक्षो दुःखान्तः।'

१२. जैसा कि हम देख चुके हैं कि **गुणरत्न** महाव्रतधर और कापालिक को दो भिन्न सम्प्रदाय मानते हैं। कापालिकों का उल्लेख वह नहीं करते। रामानुज शैव, पाशुपत, कापालिक और कालमुखों को वेद-विरोधी मानते हैं। **आनन्दगिरि** ने भी 'शंकरविजय' में कापालिकों को वेदबाह्य माना है, पर वह कालमुखी का उल्लेख नहीं करते। महाव्रतों का उल्लेख अभिनवगुप्त ने भी अपनी 'अभिनव-भारती' में किया है (भाग १, बड़ौदा-संस्करण, पृ० ३३८)। परन्तु, वाचस्पति के कारुणिक सिद्धान्तिन् का कोई उल्लेख या कोई आधार हमें कहीं नहीं प्राप्त होता। **दासगुप्त** ने आगमों के करुणा या अनुग्रह के सिद्धान्त और कारुणिक सिद्धान्तिन् में सम्बन्ध की सम्भावना निरूपित की है, (उपर्युक्त हिस्ट्री, पृ० ४)। 'शंकरविजय' में आनन्दगिरि छह भिन्न प्रकार के शैव सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं—शैव, रौद्र, उग्र, भट्ट, जंगम और पाशुपत। ऐसा प्रतीत होता है कि शारीरक भाष्य पर टीका करते हुए उन्होंने केवल पाशुपतों के अवान्तर सम्प्रदायों का उल्लेख किया है, सभी शैवों का नहीं।

१३. एवं देवि त्वया व्याप्तं सकलं निष्कलं च यत् ।
अद्वैतावस्थितं ब्रह्म यच्च द्वैते व्यवस्थितम् ।।—भा० पु०, २३–४५ ।
सर्वाश्रयाखिलमिदं जगदंशभूत-
मव्याकृता हि परमा प्रकृतिस्त्वमाद्या ।।—तत्रैव, ८४।६ ।

१४. **दासगुप्त** के अनुसार, ये दोनों ग्रन्थ पाशुपत-सम्प्रदाय के ही हैं । (उपर्युक्त हिस्ट्री, पृ० ९७) दासगुप्त के मत से तबतक सहमत नहीं हुआ जा सकता, जबतक कि हम यह न मानें कि पाशुपत-दर्शन की प्रवृत्ति अद्वैतपरक थी । इस सम्बन्ध में हम पहले ही निर्देश कर चुके हैं कि विद्वानों में पाशुपत-दर्शन के द्वैत और अद्वैतपरक स्वरूप के विषय में मतभेद है (द्र० पृ० सं० ४ पर पादटिप्पणी) ।

१५. उत्पाट्याज्ञानसम्भूतं संशयाख्यं शिवद्रुमम् ।
शिवाद्वैतमहाकल्पवृक्षभूमिर्यथा भवेत् ।।—शि० म० पु०, ६।१६।११ ।

१६. भक्तौ ज्ञाने न भेदो हि .... ।
विज्ञानं न भवत्येव सति भक्तिविरोधिनः ।।—शि० म० पु०, २।३।२३—१६ ।

१७. भ्रान्त्या नानास्वरूपो हि भासते शङ्करस्सदा ।—शि० म० पु०, ४।४३।१५ ।
कार्यकारणयोर्भेदो वस्तुतो न प्रवर्त्तते ।।
केवलं भ्रान्तिबुद्ध्यैव तदभावे न नश्यति ।।—तत्रैव, ४।४३।१७ ।

१८. भूयो यस्य पशोरन्ते विश्वमाया निवर्त्तते ।—वा० सं०, ७।१।३।१३ ।

१९. छादितश्च वियुक्तश्च शरीरैरेष लक्ष्यते ।
चन्द्रबिम्बवदाकाशे तरलैरभ्रसञ्चयैः ।
अनेकदेहभेदेन भिन्ना वृत्तिरिहात्मनः ।।—शि० म० पु०, ७।१।५।५६।

२०. द्र० शि० म० पु०, ७।२।३४।७।

२१. अतः स्वातन्त्र्यशब्दार्थाननपेक्षत्वलक्षणः ।—तत्रैव, ७।१।३१।७ ।

२२. एवं शक्तिसमायोगाच्छक्तिमान् उच्यते शिवः ।
शक्तिशक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत् ।।—तत्रैव, ७।२।४।३६ ।

२३. श्रीकण्ठेन शिवेनोक्तं शिवायै च शिवागमः ।
शिवाश्रितानां कारुण्याच्छ्रेयसामेकसाधनम् ।।—शि० म० पु०, ७।२।७।३८ ।

२४. शिवमहापुराण में प्राप्य शैवमत के उपर्युक्त विवेचन की मूल धारणाएँ **दासगुप्त** की 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन फिलॉसफी', भाग ५, पृ० ९६–१२९ पर आधृत है । यह दुःखद आश्चर्य की बात कही जायगी कि इस पुस्तक के २० वर्षों के प्रकाशन के बाद भी शिवमहापुराण पर आगे काम नहीं हुआ ।—ले०

२५. शाक्त फिलॉसफी : म० म० गोपीनाथ कविराज, हिस्ट्री ऑव फिलॉसफी : ईस्टर्न ऐण्ड वेस्टर्न, भाग १, पृ० ४०२ ।

२६. विवेचन के लिए द्र० शिवशंकर अवस्थी-कृत 'मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य', प्रथम अध्याय (आगम और तन्त्र); कान्तिचन्द्र पाण्डेय-कृत 'अभिनवगुप्त : ऐन

हिस्टोरिकल ऐण्ड फिलासॉफिकल स्टडी' (दूसरा संस्करण); अभिनवगुप्त-कृत तन्त्रालोक, प्रथम आह्निक, पृ० ३६ ।

२७. प्रतिभानलक्षण इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति ।—ई० प्र० वि० वि०, ३, पृ० ६३ ।

२८. योगसूत्र, १।४३ पर व्यासभाष्य : म०म० गोपीनाथ कविराज, उपर्युक्त, पृ० ४०२ ।

२९. तन्त्रालोक १।१८ पर विवृति; वामकेश्वरी-मत (१।१३–२२) में भी ६४ तन्त्रों का उल्लेख हुआ है । दक्षिण से प्रकाशित 'सौन्दर्यलहरी' की लक्ष्मीधरा (सौ० ल०, ५।३७) टीका में भी ६४ तन्त्रों की सूची दी गई है । गोपीनाथ कविराज के अनुसार, 'सर्वोल्लास' में भी ऐसी ही एक सूची मिलती है ।

थ्योस बर्नार्ड ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू-फिलॉसफी' (पृ० २७) में एक परम्परा का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्र क्रमशः सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग की आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए आविर्भूत हुए हैं । **जॉन वुडरफ** ने 'शक्तिमंगलातन्त्र' के आधार पर तन्त्रों का तीन भौगोलिक वर्गों में विभाजन किया है : विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता (जिसे कभी-कभी गजक्रान्ता भी कहा गया है) । विष्णुक्रान्ता का प्रसार विन्ध्यपर्वत से चटगाँव तक है; रथक्रान्ता का चटगाँव से महाचीन तक और अश्वक्रान्ता का विन्ध्यपर्वत से महासमुद्र तक । 'महासिद्धिसारतन्त्र' इस वर्गीकरण से सहमत है, परन्तु अश्व-क्रान्ता का प्रसार वह करतोया नदी से जावा तक मानता है । 'साधनकल्पलतिका' में इन तन्त्रों की सूची में थोड़ा अन्तर है । (द्र० प्रिंसिपिल्स ऑव तन्त्र, मद्रास, सन् १९६० ई०, पृ० ५७–५९) ।

३०. द्र० तान्त्रिक साहित्य : म० म० गोपीनाथ कविराज, हिन्दी-समिति, उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा प्रकाशित; लुप्तागमसंग्रह : व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

३१. 'अलौकिके तु स्रोतश्चतुष्टये ज्ञानयोगक्रियाचर्याप्राधान्येन पृथक् पृथक् उपपादिता-र्थान्तरप्रपञ्चेऽपि अन्ततो गत्वा प्राप्यभूमिकात्वेन अयमर्थो अवस्थाप्यते ।'

—महार्थमंजरी-परिमल : महेश्वरानन्द, त्रिवेन्द्रम्, पृ० १७८ ।

३२. काश्मीर शैविज्म : जे० सी० चटर्जी, पृ० २३-२४; अभिनवगुप्त : का० च० पाण्डेय, पृ० ७२; डॉक्ट्रिन ऑव रिकॉग्निशन : आर्० के० काव ।

३३. त्र्यम्बक से एक चौथे सम्प्रदाय का भी सूत्रपात हुआ, जिसे अर्थमठिका कहा जाता है । यह त्र्यम्बक की दुहिता के माध्यम से हुआ । यह भी अद्वैतवादी सम्प्रदाय की ही शाखा थी, जिसका आगे चलकर 'कुलदर्शन' के रूप में पल्लवन हुआ । (द्र० ई० प्र० वि०, १।१।१ पर भास्करकण्ठ की टीका) । यह बात ध्यान देने की है, सोमानन्द इसी त्र्यम्बक और दुर्वासा का अपने पूर्वपुरुष के रूप में उल्लेख करते हैं । (शिवदृष्टि, तन्त्रालोकविवेक, भाग १, पृ० ३६) ।

३४. **आर्० के० काव** ने शंकराचार्य और अभिनवगुप्त में किसी प्रकार के सम्बन्ध को अस्वीकार करते हुए शंकराचार्य के शाक्त-सम्प्रदाय से भी सम्बन्ध को अस्वीकार कर दिया है। (दि डॉक्ट्रिन ऑव रिकॉग्निशन, पृ० ६–१०) इस प्रकार के मन्तव्य श्रीविद्या-परम्परा से अपरिचय के परिचायक हैं।

३५. अभी तक इन लक्ष्मणदैशिक के व्यक्तित्व का सही अनुमान नहीं हो पाया था। लेखक ने अपने ग्रन्थ 'तान्त्रिसिज्म ऑव क्रम', भाग १, अध्याय ६, उपशीर्षक 'लक्ष्मणगुप्त' के अन्तर्गत इसपर विस्तार से विचार किया है। यह कृति मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली द्वारा मुद्रणाधीन की गई थी।—ले०

३६. नेत्थं विनीर्विवर्त्तोऽस्ति परिणामश्च न क्वचित्।
अथवाद्वयमप्यस्तु तदाप्यस्य न खण्डना ॥—अभेदार्थकारिका (सिद्धनाथ)।
और भी :
इति निर्मलबोधैकरूपे भेदपरिग्रहः।
विवर्त्तपरिणामाभ्यां द्वाभ्यामप्युपपद्यते ॥—संवित्प्रकाश।

३७. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्।
न चैदेवं देवो कुशलः खलु स्पन्दितुमपि (?) ॥—सौन्दर्यलहरी।

३८. इण्डियन आइडियलिज्म, पृ० २३, उपखण्ड ३७।

३९. फिलासॉफिकल एसेज़ : एस्० एन्० दासगुप्त, 'जनरल इण्ट्रोक्शन टु तन्त्र फिलॉसफी' शीर्षक अध्याय।

४०. प्रत्ययदर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः।

४१. फिलॉसफी, लॉजिक ऐण्ड लैंगुएज, पृ० २२७।

४२. 'तत्रापि अस्ति अन्तःपरामर्शः। सकलेन हि शब्दग्रामेण शब्दनं सहन्ते वस्तूनि तत्र च नियतशब्दयोजनं क्रियते।'—ई० प्र० वि०, भा० १, पृ० २८९; 'इति सूक्ष्मेण प्रत्यवमर्शनसंवर्त्तितशब्दभावनामयेन भाव्यमेव। संवर्त्तिता हि शब्द-भावना प्रसारणेन विवर्त्यमाना स्थूलो घटादिः।'—ई० प्र० वि०, भा० १, पृ० २९३।

४३. 'अत्र दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात् अभिलापमयत्वमेव।'—ई० प्र० वि०, भा० १, पृ० २८९।

४४. कायवाग्बुद्धिविषया ये मलास्समवस्थिताः।
चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥—वाक्यपदीयम्, १।१४४।

४५. थ्योस बर्नार्ड : हिन्दू फिलॉसफी, पृ० ३१। उत्तरी शैवमत से उनका अभिप्राय काश्मीर शैवमत और दक्षिणी से लिंगायत, अर्थात् वीरशैवमत का है।

४६. 'सम्प्रदायस्य काश्मीरोद्भूतत्वाद्।'—ऋजुविमर्शिनी, शिवानन्द, वाराणसी।

४७. स्वयं शैव-शाक्त ग्रन्थों में, विशेषतः 'तन्त्रालोक' में इन भिन्न सम्प्रदायों—द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत—को एक आवयविक समष्टि के घटकों के रूप में देखने की चेष्टा की

गई है और इनके पारस्परिक भेद को मौलिक न मानकर सोपानगत या अवस्थागत भेद के रूप में ग्रहण किया गया है।

अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम् ॥—तन्त्रालोक, १।२३०।

और 'तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः'।—प्रत्याभिज्ञाहृदयम्, क्षेमराज, सूत्र ८। इस प्रकार की चेष्टा हमें पश्चिम के अलेक्जेण्ड्रियन सम्प्रदाय की याद दिलाती है। इसके विशेष पल्लवन के लिए द्र० लेखक का शोध-प्रबन्ध : 'क्रम तान्त्रिसिज्म ऑव कश्मीर' (मोतीलाल बनारसीदास के द्वारा प्रकाश्यमान), द्वितीय भाग, प्रथम अध्याय।

☐ **अभिनवगुप्त-संस्थान**
लखनऊ-विश्वविद्यालय
लखनऊ (उ० प्र०)

क्रमतत्त्व

"अति प्राचीन काल से ही क्रमतत्त्व की आलोचना होती आई है। परन्तु, यह ऐसा विषय है कि सर्वसाधारण की बुद्धि का गोचर नहीं हो सकता। पातंजलयोगशास्त्र में इसका किंचित् निदर्शन है। उसमें कहा गया है कि क्रम की अन्यता, अर्थात् भिन्नता से ही परिणाम की अन्यता या भिन्नता सिद्ध होती है। फिर, काल भी वस्तुतः क्रमरूप ही है; क्योंकि वह क्षण का क्रम कहा गया है। क्षण वास्तविक है, परन्तु काल बौद्ध पदार्थ, अर्थात् बुद्धि से कल्पित है। क्षण के क्रम से ही बुद्धि में काल के ज्ञान का उदय होता है। क्षण तथा उसके क्रम के ऊपर संयम करने से विवेकज ज्ञान का उदय होता है। कृतार्थता को प्राप्त गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति धर्ममेघसमाधि के अनन्तर होती है। जबतक भोग तथा अपवर्ग सिद्ध नहीं होते, तबतक यह नहीं हो सकती। प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में क्षणिकवादी बौद्धों के मत में भी क्रम की आलोचना होती थी तथा स्फोटवादी वैयाकरण-समाज में भी। कश्मीर में जिस शैव-सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ था, उसमें भी विशेष रूप से क्रम की चर्चा होती थी। 'क्रमसूत्र' नामक एक ग्रन्थ का निर्देश मिलता है, जिसमें नित्योदित समाधि-प्राप्ति का उपाय वर्णित है।"

☐ **म० म० पं० गोपीनाथ कविराज**

कविराजजी की व्यक्तिगत साधना : अखण्ड महायोग

□ श्री डी० एन्० एच्० चन्द्रशेखर स्वामी

मनुष्य तीव्र चिन्तनधारा से जीवन के अनन्त पक्षों के अन्तर्निरीक्षण एवं अनुभव द्वारा अलौकिक शक्ति को प्राप्त करके अतिमानवता के स्तर पर पहुँचता है तथा व्यक्तिगत रूप से अपने जीवन को एक विशिष्ट मोड़ देता है और उस जीवन को अखण्डता में परिणत कर लेता है। अखण्डभाव की जागर्त्ति के कारण प्रत्येक जीव के भाव के साथ उसके जीवन की एकतानता होती है। ऐसे ही महानुभावों में प्रातःस्मरणीय, महान् चिन्तक, महामनीषी, महायोगी और भारतीय संस्कृति के अभिवर्द्धक श्रद्धेय **कविराजजी** के दर्शन प्राप्त करने का सुअवसर लेखक को अगस्त, १९५५ ई० में मिला। उस समय वे अपनी ग्रन्थराशियों में शाम्भवी मुद्रा में विराजमान थे। लेखक उनके अहैतुक स्नेह एवं अशेष कृपा के कारण उनसे इतना घनिष्ठ हो गया कि निरन्तर उन्हीं के निकट रहने लगा। उसे उनके सान्निध्य में पठन-पाठन और शोधकार्य करने का सौभाग्य लाभ हुआ तथा धीरे-धीरे उनके अन्तरंग साधनामय जीवन से अवगत होने का अलभ्य अवसर भी प्राप्त हुआ। उनका जीवन, उनके शब्दों में, महाशक्ति की लीलामात्र है। वस्तुतः, उनको बाल्यकाल में ही विलक्षण अनुभूतियाँ होती थीं, जिन्होंने कालान्तर में और भी प्रौढ रूप धारण किया। इसका भूरि-भूरि श्रेय उनकी श्रुतिमहती सर्वांगीण व्यक्तिगत साधना को दिया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप उन्हें अखण्ड महायोग उपलब्ध हुआ।

गुरुवर्य कविराजजी की साधना गुरु-प्रदत्त ज्ञानगंज-योग की रहने पर भी उनकी दृष्टि समन्वयात्मक थी। वे साधना में क्रिया और ज्ञान का समन्वय करके चले। उनकी व्यक्तिगत उपलब्धि के विशिष्ट कारण अन्य सम्प्रदायों के साधन-मार्ग पर प्रकाश डालते समय व्यक्त किये गये हैं। उनकी पूजा-पद्धति भी बाह्याडम्बर-रहित थी। उनमें स्वाभाविकतया ज्ञान, योग और भक्ति की पावन त्रिवेणी सतत प्रवाहशील थी। उनके शब्दों में, साधक को स्वानुभव प्राप्त किये विना उसके अन्तस्तल में स्थिरता नहीं आती; क्योंकि आन्तरिक स्थिरता आने पर ही क्रम से अवरोहण सम्भव होता है। यह यात्रा अनन्त है। बोध द्वारा इसके क्रम की अनुभूति होती है, फलतः प्रभुप्राप्ति तुरन्त हो जाती है। तत्पश्चात् क्रम-अक्रम का प्रश्न नहीं उठता।

कविराजजी को साधना के अन्तर्गत अनन्त प्रकार के सिद्ध देहों का अनुभव था। तत्तत् देहों में प्रवेश करने पर तत्तत् प्रकार के मण्डल और चेतना-राज्य का बोध होता है।

तन्त्रग्रन्थों में वर्णित बैन्दव देह, शाक्त देह, शाम्भव देह इत्यादि के रहस्य उनकी व्यक्तिगत साधना के बल पर उद्घाटित हुए और वे साधकों को नूतन प्रकाश की ओर अग्रसर करने में सक्षम थे।

कविराजजी के पत्राचार से उनके अनुभवों की अभिज्ञा अधिकांश रूप में दृष्टि-गोचर होती है। चिदाकाश का वर्णन करते समय वे लिखते हैं कि चिदाकाश का दर्शन ऊर्ध्वनेत्र से होता है, चित्ताकाश का मध्यनेत्र से और भूताकाश का अधोनेत्र से। पहले दर्शन का मार्ग है ब्रह्मरन्ध्र, दूसरे दर्शन का मार्ग है भ्रूमध्य-स्थित दिव्य चक्षु और तीसरे दर्शन का मार्ग है इन्द्रिय। द्रष्टा सब समय में पीछे विद्यमान रहता है। ऐन्द्रिय अथवा भौतिक दर्शन भेदगम्य है, शुद्ध मन अथवा दिव्य चक्षु का दर्शन भेदाभेदमय है और विज्ञान-चक्षु का चिन्मय दर्शन अभेदमय है। भूतशुद्धि के प्रभाव से चित्ताकाश में और चित्तशुद्धि के प्रभाव से चिदाकाश में प्रतिष्ठा होती है।

कविराजजी को शब्दसाधना और शुद्धनाद का पूर्णतया प्रत्यक्ष अनुभव था। शब्दसाधना के अखण्ड अभ्यास के प्रभाव से अनुभूति में ऐसी अवस्था का उदय होता है, जिससे समझ में आता है कि यह शब्द केवल अपने हृदय में आबद्ध नहीं है, अपितु अपने हृदय से समग्र जगत् और क्षुद्रता से बृहत्त्रय सत्ता-पर्यन्त प्रतिवस्तु में समरूपेण व्याप्त है। वह केवल विचारमूलक बोध नहीं है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही नादसिद्धि का लक्षण है।

परमवस्तु की प्राप्ति के लिए कविराजजी गुरुकृपा को प्रधान और स्वप्रयास को गौण मानते थे। उनके विचार में अन्तर्गुरु श्रेष्ठ हैं। यह अन्तर्गुरु प्रत्येक जीव के हृदय में अन्तर्यामी के रूप में विराजमान रहते हैं; परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अन्त में बाह्य गुरु भी आन्तर गुरु के रूप में परिणत हो जाते हैं। कविराजजी ने, गुरुकृपा-मार्ग के पथिक रहने के कारण, युगपत् कमलकर्णिका-मार्ग का भेदन करते हुए सहस्रदल में प्रवेश किया था। तदुपरान्त सहस्रदल का भी भेदन करके शतदल में स्थितिलाभ किया। उस समय उनमें अनन्त प्रकार के भावों की जागर्त्ति हुई। उन्होंने कमल के केन्द्र में अवस्थित होकर गुरुपादुका का दर्शन किया। उसमें एक पाद अतिसूक्ष्म है, जिसको 'त्रिपाद' नाम से भी व्यहृत करते हैं। इसको ऊर्ध्ववाहिनी गंगा भी कहते हैं। इस प्रवाह में सहज स्वरूपगत अनुभव प्राप्त होता है। इसका भी भेदन करके वे शक्तिगह्वर में प्रवेश पा गये। यहाँ अति तीव्र प्रकाश होने के कारण इसको अतिघोरान्धकार भी निर्देशित करते हैं। इसमें स्थिरता प्राप्त करते ही विराट् महाप्रकाश का अनुभव होता है। यह प्रकाश सामान्य ज्योति से भिन्न है। यह विश्वातीत महाप्रकाश है। इस अवस्था में योगी अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को एक बिन्दु-स्वरूप में स्थिर करके स्वात्मा में आनन्दित होता रहता है। तत्पश्चात् उन्होंने क्रमशः ऊर्ध्वमुख और अधोमुख त्रिकोण का भेदन किया। इस अधोमुख त्रिकोण के भेद के बाद भी एक व्यापक महाशून्य है। यहाँ से कविराजजी का एक विशेष क्रम है, जो विश्वातीत अवस्था और विश्वात्मक अवस्था के मध्य कड़ी जोड़ता है। यह है व्यष्टि-आत्मस्वरूप, जो समष्टिदेह से सम्पन्न होकर कार्य

करता है। इस स्तर पर अनन्त गुरु-राज्य है। जिन महापुरुषों में करुणा का उदय होता है, वे यहाँ अपने-अपने मण्डलों की रचना करते हैं। यह अवस्था बौद्धों के करुणा-पुण्डरीक के सदृश है। इस स्तर पर अपनी सम्पूर्ण लौकिक आकांक्षाएँ हट जाती हैं। यहाँ शक्तिचक्र प्रकल्पित करने के लिए व्यक्तिगत अथवा स्वात्म-स्वरूपगत शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह शक्तिचक्र शरीर-स्थित शक्तिचक्रों की भाँति न होकर एक बिन्दु-मात्र है। इसमें अनन्त प्रकार के भाव, अनन्त प्रकार के आकार, अनन्त प्रकार के देह आदि अखण्ड चैतन्य रूप में अवस्थित हैं। शक्तिचक्र की बाह्यभूमि में अनन्त प्रकार के भाव और विविध भावमंजरियाँ हैं, किन्तु केन्द्र में मातृभाव है। यह महाभाव है। इसी स्तर पर व्यक्तिगत साधना में स्थिरता आते ही स्वरूपगत त्रिशक्ति और मातृस्वरूप में एकत्व का का अनुभव होता है और तब ब्रह्ममयी माँ का आलिंगन प्राप्त होता है। इसके आलिंगन से व्यष्टि-आत्मा का बोध समष्टि-आत्मा के स्वरूप में परिणत हो जाता है। उसके पश्चात् महाशक्ति स्वयं गुरु-रूप में, द्विदल में विराजमान हो जाती है। इस स्तर में गुरु-रूपिणी माँ अनन्त प्रकार के ऐश्वर्य एवं विविध विभूतियाँ व्यष्टिगत आत्मस्वरूप को देने के लिए तैयार हो जाती हैं, किन्तु इन ऐश्वर्यों की कामना एवं इनको स्वीकार कर लेने पर, समष्टि-रूप में जीवों के साथ सम्बन्ध रखकर महायोगी समष्टि-प्रेम को नहीं पा सकता। अतएव, कविराजजी ऐश्वर्यों का त्याग करके जगत्कल्याण के लिए अखण्ड महायोग-साधना में प्रवृत्त हुए।

अखण्ड महायोग-दर्शन केवल दर्शन-तत्त्व या दर्शनशास्त्र नहीं है। इसमें जो तत्त्व हैं, वे अनुभूत सत्यधारा के द्योतक हैं। इसका लक्ष्य किसी एक दार्शनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादन के लिए नहीं, अपितु समन्वय द्वारा जगत्कल्याण के लिए उद्युक्त क्रिया है। इसमें सब तत्त्वों का मिलन है। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत—ये सब सत्य-स्वरूप के एकदेशीय पक्ष हैं। अखण्ड तत्त्व में यह सब एकत्वेन अवस्थित है। अतएव, अखण्ड महायोग का अद्वैत अद्वय स्वरूप का है। एकत्व में नानात्व और नानात्व में एकत्व केवल दृष्टिभेद हैं, वस्तुतः एक-ही-एक है। यह भेदकालसापेक्ष अनुभूति पर निर्भर करता है।

साधारणतया योग व्यक्तिगत उत्थान के लिए होता है। अहंकार समाप्त करने के लिए ही, साधक के अनन्त दोषों से भरे रहने पर भी, उसके लिए अपेक्षित वस्तुओं और आकांक्षाओं की पूर्त्ति कर, निरन्तर उसके सरल स्वभाव के कारण, स्वयं महाशक्ति उसे अंगीकृत कर लेती है; क्योंकि उसकी साधना समर्पण-भाव की होती है। शरणागतभाव के कारण अहंकार प्रवेश नहीं करता। अखण्ड महायोग-रूपी भवन के निर्माण में आध्यात्मिक ज्ञान और अनन्त योग का गीतादर्शन नींव के समान है। शैवज्ञान इसकी भित्ति है। इसमें अपना गुरुपरम्परागत ज्ञान है। अन्तर्मुखता इसका द्वार है। इसपर जगत्कल्याण-भाव कलश है। कुमारी मातृस्वरूप देवता है। इस प्रकार के अखण्ड महायोग-मन्दिर का लक्ष्य जगत्कल्याण है। अखण्ड महायोग अलौकिक ज्ञान और अलौकिक योग है। यह अवतरण को मानता है।

कविराजजी के अखण्ड महायोग के दो भाग हैं : पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध का कुछ अंश बँगला-भाषा में है। किन्तु, वह इतना रहस्यात्मक है कि समझ में कम आता है। यहाँ उसको समझने का प्रयत्न किया गया है। पूर्वार्द्ध में बहुत-सी क्रियाएँ गुरु के अन्तरादेश के अनुसार समष्टि-रूप से निर्दिष्ट हुई हैं। यहाँ शतभेदोत्तर क्रिया १०१ से १०६ तक सम्पन्न हुई है। इसमें मूलतः कविराजजी ही थे। इसमें सहस्रदल, का भेद करके शतदल का भेद करने पर समष्टि का बोध होता है। योगमार्ग में शतदल का भेद करके साधक गुरुपादुका तक पहुँचते हैं। किन्तु, वहाँ से लौटना सम्भव नहीं है; क्योंकि उसमें एक बहुत बड़ी निरोधिका शक्ति है। यह योग समना तक है। इसके ऊपर उठना सम्भव नहीं है। किन्तु, महाशक्ति की कृपा-विशेष से यहाँ से भी उठा जा सकता है। साधक का, एक विशिष्ट स्वरूप लेकर शतदल-गत शिव एवं शक्तिमय होने पर भी, उसी स्थिति में शाक्त देह से सम्पन्न होकर रहना ही पर्याप्त नहीं है। इसके बाद गुरु ने अपनी शक्ति से जो कुछ किया है, उसको तथा महाशक्ति को छोड़ना पड़ता है। उस अवस्था में गुरु (कृपा) अथवा महाशक्ति भी कार्य नहीं करती; क्योंकि व्यष्टि-स्वरूपगत समस्त शक्ति का पुनः समर्पण नहीं करेंगे, तो समष्टिगत जीवों के उद्धार के लिए कौन-सी वस्तु रहेगी, जो सबको प्राप्त हो सकेगी। अतः, इस अवस्था में गुरुशक्ति और इष्टशक्ति को प्राप्त करना पड़ता है। सत्, चित् और आनन्द-रूपी त्रिकोण के केन्द्र में महाशक्ति है। यह उधर करुणा से अधोमुख होकर जीवन से मिलने के लिए उद्यत हुई और इधर समष्टि-जीवबिन्दु अपने शरणागत-स्वरूप के साथ उन्मुखभाव, आकांक्षा, दृढ विश्वास-रूपी त्रिकोण, जो समष्टि का अधोमुख त्रिकोण है, तथा महाशक्ति-स्वरूप त्रिकोण के आकर्षण से उन्मुख है। इन दोनों का मिलन हुआ। यह ध्यातव्य है कि यह सब सूक्ष्म व्यापार समष्टि-जीव के केन्द्रबिन्दु में होता है और इसके फलस्वरूप महाशक्ति पृथ्वीतत्त्व तक आती है। इसको अखण्ड महायोग की सांकेतिक भाषा में कहा जाय, तो जो अधोमुख त्रिकोण है, उसमें स्वरूप-वृत्तरूपी बिन्दु बना है। इसमें श्वेत कमल और रक्त कमल हैं, यही गुरुमण्डल है, जो काया में स्थिर होता है। यह प्रकाश-स्वरूप कमल है। किन्तु, इस अवस्था में केवल इसकी रूपरेखा बनती है। यही शतभेदोत्तर क्रिया १०१ से १०६ तक सम्भवतः पहुँचती है।

इस अवस्था में सब छोड़ देने पर कृपाशून्य क्रिया प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में बहुत कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। इस समय काल और जागतिक अनन्त प्रकार की विरुद्ध शक्तियाँ आक्रमण करने का प्रयास करती हैं। इसी प्रकार की अवस्था गौतम बुद्ध को प्राप्त हुई थी। यह मारजय की अवस्था है। इस अवस्था में न गुरुशक्ति प्रकाश में आती है और न इष्ट का बल। केवल साधारण व्यक्ति की तरह रहकर समष्टि-जीव, अर्थात् समष्टि जीव-बिन्दुभाव में क्रिया की जाती है। यही संक्षेप में अखण्ड महायोग है।

उत्तरार्द्ध में कृपाशून्य क्रिया के समय कविराजजी के समक्ष अनन्त प्रकार की विपत्तियाँ आईं। कालशक्ति अपना विकराल रूप दिखाने लगी। इसमें न गुरुशक्ति का

आश्रय लिया जा सकता था, न इष्टशक्ति का। व्यक्तिगत का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इस क्रिया में उन्हें कई वर्ष लगे। इस क्रिया के फलस्वरूप अखण्ड महाशक्ति इनका आलिंगन करके स्वयं क्रियाशील हुई। एकमुखी, द्विमुखी और सर्वमुखी क्रिया के बाद माँ ने अपना प्रेमस्वरूप दर्शन देकर सन्तान के प्रति वात्सल्यभाव प्रकट किया। इसके पश्चात् सहज क्रिया शुरू हुई। इस क्रिया में, कृपाशून्य अवस्था में जिन शक्तियों का आश्रय छोड़ दिया था, वे भी समष्टि-जीवबोध-अवस्था का आलिंगन करती इस महान् नवनिर्माण-कार्य में लग गईं।

इस प्रकार, त्रिशक्ति-प्रेमकुमारी-स्वरूपा, महाशक्ति-स्वरूपा और स्वात्मस्वरूपा इन तीनों के मिलने के कारण सहज जगत्कल्याण-भाव के साथ क्रिया अग्रसर हुई।

ज्ञातव्य है, इसके फलस्वरूप, दिव्यमानव-जगत् में विराट् परिवर्त्तन सम्भव होता है। रूपान्तर-क्रिया चलती रहती है। मनुष्य के शरीर में सप्त बिन्दु हैं। इनमें स्वाभाविक तथा आवर्त्तगति क्रियाशील है। शाक्त योगी व्यष्टि-स्वरूप त्रिकोण-गति को क्रियाशील करते थे, किन्तु वह खण्डरूप से। बिन्द्वात्मक गति विराट् परिवर्त्तन लाने के लिए निरन्तर उद्यत है। शरीरगत सप्त बिन्दुओं के एक बिन्दु में परिणत होते ही साकार महाप्रकाश का स्फुरण होता है। इसका स्फुरण होते ही विराट् अहं-तत्त्व समग्र विश्व में क्रियाशील हो उठता है। और, कालजगत् में एक अद्भुत स्वरूप की स्थिरता का समय आ जाता है, और इसमें सब मानव अभेद दृष्टि प्राप्त करते हैं। एक अखण्ड दृष्टि जग जाती है। सबमें मानव-भाव आ जाता है। मैत्री, करुणा और मुदिता-भाव बनता है। इसी जगत् में कालजगत् और दिव्यजगत् की प्रवृत्ति देखने में आती। प्रत्येक व्यक्ति का आकर्षण इधर बढ़ने लगता है और धीरे-धीरे रूपान्तर शुरू हो जाता है।

इस प्रकार के अन्तर्जगत् के विराट् अहं में स्थिति लेकर, उन्मुख होकर, समग्र विश्व के कष्ट को अनुभव करते हुए उस महावेत्ता की प्रतीक्षा में अपनी संकल्पशक्ति को लगाकर बैठे हुए महापुरुष थे कविराजजी। उनमें महामानव-स्वरूप निरन्तर जागरित और क्रिया-शील रहा। उनका योग मोक्ष-वासना अथवा सिद्धिलाभ का लक्ष्य नहीं रखता था, अपितु मानव-मात्र के कल्याण के लिए था। इसमें देश-कालभेद, जातीय भेद अथवा सम्प्रदाय-भेद नहीं है, न इसमें संकीर्णता ही है। यही श्रीगुरुदेव का अखण्डमहायोग-दर्शन है। मानव-मात्र के कल्याण के लिए विराट् स्वात्मस्वरूप एवं सुख की अपेक्षा करनेवाले, सिद्ध और मायावी कामना तक का परित्याग करनेवाले महाप्रकाश-दृष्टिप्राप्त श्रद्धेय गुरुदेव को मेरा शत-शत प्रणाम !*

☐ योगतन्त्र-विभाग
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ०प्र०)

---

* इस लेख में लेखक की भाषिक अभिव्यक्ति अतिशय विपर्यस्त है। पुण्यश्लोक कविराजजी के अन्तरंग अनुयायियों को, उनकी व्यक्तिगत साधना या सिद्धि की विशिष्ट उपलब्धि के प्रसंग सुलझी हुई भाषा में प्रस्तुत करने की प्रेरणा प्राप्त हो, इसी अभिप्राय से यह विशिष्ट लेख यहाँ उपन्यस्त है।—सं०

स्मृति-प्रसंग :

पं० गोपीनाथ कविराज : जीवन और साधना

☐ डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज आधुनिक युग की उन विशिष्ट आध्यात्मिक विभूतियों में हैं, जिनके तपोमय जीवन एवं ज्ञानालोकपूर्ण कृतियों का भारतीय संस्कृति एवं दर्शन के निगूढ तत्त्वों को वैज्ञानिक आधार पर प्रतिष्ठित करने में अपूर्व योगदान है। उनके लोकोत्तर व्यक्तित्व में वैदिक ऋषियों की क्रान्तदर्शिता, मध्यकालीन आचार्यों की तर्कणाशक्ति और वैष्णव भक्तों का उच्छल भावावेश विलक्षण अनुपात में समाहित था। भारतीय दर्शन के विभिन्न अंगों को भाँति ही खीष्टीय, इस्लामी, चीनी और तिब्बती दर्शन एवं साधना-पद्धतियों पर भी उनका असाधारण अधिकार था। आगम और तन्त्रों को जो प्रतिष्ठा आज प्राप्त है, उसका बहुत कुछ श्रेय **कविराजजी** की मर्मोद्घाटिनी निर्वचन-पद्धति तथा व्याख्याओं को है। पातंजल-योगसूत्र के गह्वर में प्रवेश कर उन्होंने उसकी विशिष्टताओं का जिस सरल-सुबोध शैली में उद्घाटन किया है, वह उसके सुविज्ञ अध्येताओं को भी विस्मय-विमुग्ध कर देती है। तुलनात्मक शैली में दार्शनिक विवेचन उनकी अपनी पद्धति थी, जिसके द्वारा विश्व के नाना धर्मों तथा सम्प्रदायों की चिन्तनधाराओं में उनकी अबाध गति पदे-पदे अभिव्यक्ति पाती थी। इस प्रकार, कविराजजी जैसे शलाका-पुरुष एवं 'दिसापामोक्ख' आचार्य और परमानुभूति-सम्पन्न महाप्राज्ञ के पुण्यमय जीवन की यथार्थ पर्यालोचना कोई समशील व्यक्ति ही कर सकता है। कविराजजी प्रायः कहा करते थे : **'देवो भूत्वा देवं यजेत्।'** यह वर्त्तमान पीढ़ी का परम सौभाग्य था कि उसे ऐसे विदेहमार्गी महात्मा के दरस-परस का सुयोग प्राप्त हो गया। दुर्भाग्यवश, हमारी मण्डूक-प्रवृत्ति, दिग्दिगन्त को सुवासित करनेवाले उस दिव्य ज्ञानकमल के मकरन्दपान में निरन्तर बाधक रही। अतः, उनके स्थूल जीवन की सामान्य घटनाओं का भी मर्म समझने में हम असमर्थ रहे, फिर सूक्ष्म अन्तर्धाराओं के दुर्भेद्य रहस्यों के उद्घाटन की बात ही अलग है। इन प्रकृतिगत सीमाओं के कारण, सहृदयों को, कविराजजी के 'जीवन-दर्शन' के रहस्यपूर्ण तत्त्वों की मीमांसा की अपेक्षा, सतही तथ्यों के विवरणों से आप्लावित यह स्मृति-चर्चा अवश्य ही ग्राह्य होगी।

कविराजजी का भौतिक जीवन पिण्ड में प्राणसंचार के क्षण से ही महाशक्ति का अद्भुत क्रीडाक्षेत्र रहा है। उनके पिता **श्रीवैकुण्ठनाथ कविराज स्वामी विवेकानन्द, सर सतीशचन्द्र मुखर्जी** तथा **सर ब्रजेन्द्रनाथ शील** जैसी महत्तम प्रतिभाओं के मित्र एवं

सतीर्थ्य तथा अपने समय के प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता के सर्वाधिक मेधावी छात्र थे। उनके पिता का साधारण बीमारी से, एम्० ए० द्वितीय वर्ष के अध्ययनकाल में ही, शरीरान्त हो गया। उस समय कविराजजी मातृगर्भ में थे, जो पाँच महीने बाद २२ सौर, बुधवार, सं० १९४४ (७ सितम्बर, १८८७ ई०) को भूमिष्ठ हुए। माता **सुखदासुन्दरी देवी** पूर्ववंग के प्रसिद्ध तीर्थ धामराई-मन्दिर के मुख्य सेवक **हरिश्चन्द्र मौलिक** की पुत्री थीं। इनके भी माता-पिता का देहान्त विवाह के पूर्व ही हो चुका था। ऐसी स्थिति में निराश्रिता माँ, पितृहीन बालक को छाती से लगाये, अपने दुर्दिन, धर्ममाता **वामासुन्दरी** तथा श्वशुर के मामा **पं० कालाचन्द सान्याल** की छत्रच्छाया में काटती रहीं। उक्त दोनों अभिभावकों के यहाँ कोई बालक न था, अतः नवजात शिशु उनका अनन्य स्नेहभाजन बन गया। नानी वामासुन्दरी ने उस शिशु का प्यार का नाम 'निवारण' रखा, इनकी पुत्री **स्वर्णमयी** को 'अक्षय' अभिधान अधिक रुचिकर लगा; किन्तु नाना **कालाचन्द** ने नामकरण-संस्कार के समय अपने गृहदेव 'गोपीनाथ' के प्रसाद-रूप में प्राप्त बालक को वही संज्ञा दे दी।

कविराजजी की प्रारम्भिक शिक्षा **पं० कालाचन्द सान्याल** महाशय की छत्रच्छाया में, काँठालिया में हुई। ग्यारह वर्ष की आयु तक वे वहीं बँगला, संस्कृत और अँगरेजी पढ़ते रहे। इसके पश्चात् माध्यमिक शिक्षा के लिए माता उन्हें धामराई ले आई। स्थानीय विद्यालय के अध्यापक **पं० प्रसन्नकुमार चक्रवर्त्ती** तथा **पं० हाराणचन्द्र चक्रवर्त्ती** का सुयोग्य निर्देशन प्राप्त कर उनके मन में संस्कृत-भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की तीव्र उत्कण्ठा जाग्रत् हुई। पं० कालाचन्द ने इसी बीच उस प्रदेश के प्रसिद्ध विद्वान् **पं० कार्त्तिकशंकर तर्कालंकार** की भतीजी **कुसुमकामिनी देवी** से उनका विवाह कर दिया। तर्कालंकारजी का कुशाग्रबुद्धि गोपीनाथ पर अपार स्नेह था। संयोगवश, विवाह के एक ही वर्ष बाद गोपीनाथजी के अन्यतम अभिभावक **पं० कालाचन्द सान्याल** का धनुष्टंकार व्याधि से अकस्मात् देहावसान हो गया! इस प्रकार, उनका दूसरा आश्रय-स्थल भी ध्वस्त हो गया। नाना के मरते ही उनके पट्टीदारों ने घर और जमीन पर अधिकार कर असहाय माता और पुत्र को कराल कालचक्र की दया का भिखारी बना दिया। माता को बहू के नैहर में शरण मिली, किन्तु पुत्र धामराई में नानी के घर रहकर ही अध्ययन करता रहा। यहीं से तीसरी (आज की आठवीं) कक्षा पास कर उच्च माध्यमिक शिक्षा के लिए ढाका जाने की योजना बनी। अर्थाभाव के कारण माता पढ़ाई का व्ययभार वहन करने में असमर्थ थीं। अतः, मित्रों और परिचितों का सहारा पाकर वे ढाका गये और वहाँ **यदुनाथ सान्याल** तथा **अविनाशचन्द्र सरकार** नामक दो मित्रों ने उनके निवास तथा भोजन की व्यवस्था कर दी। **पं० कार्त्तिकशंकर** अपनी स्थिति के अनुसार, कुछ सहायता कर दिया करते थे, किन्तु उससे कपड़ों, कॉपियों तथा पुस्तकों का खर्च नहीं चल पाता था। इस आड़े समय में उनके नाना कालाचन्द सान्याल के परिचित और उस क्षेत्र प्रसिद्ध महाजन **शाह भैरवनाथ राय** काम आये। इन्होंने चौदह रुपये मासिक वृत्ति बाँधकर उन्हें आर्थिक चिन्ता से मुक्ति दिला दी।

कविराजजी के आध्यात्मिक तथा बौद्धिक विकास की दृष्टि से ढाका के छात्र-जीवन के दो वर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। पूर्ववंग के विश्रुत सन्त **योगिराज लोकनाथ ब्रह्मचारी** के शिष्य **बाबू मधुरामोहन** ढाका के जुबिली स्कूल के आचार्य थे। ये गोपीनाथ पर पुत्रवत् स्नेह रखते थे। उनके बालजीवन पर इनकी उच्चस्तरीय नैतिकता का गहरा प्रभाव पड़ा। दूसरे महापुरुष थे 'बान्धव' के सम्पादक **कालीप्रसन्न घोष**। तत्कालीन धार्मिक समाज में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। इनकी 'निशीथचिन्ता', 'भक्तिर जय' आदि पुस्तकें उनके बालहृदय में तत्त्वानुसन्धान की प्रेरणा का संचार करने में विशेष सहायक हुईं।

संस्कृत के अध्ययन का जो संस्कार उन्हें पिता से दीक्षा-रूप में प्राप्त हुआ था, वह श्रीघोष द्वारा संगृहीत ग्रन्थों के अध्ययन से पल्लवित हुआ। बाल्यावस्था में ही उन्होंने सैकड़ों उद्भट श्लोक कण्ठस्थ कर लिये। पूर्वमाध्यमिक शिक्षाकाल में उन्होंने प्रारम्भिक संस्कृत-व्याकरण **पं० कन्हाईलाल गोस्वामी** से पढ़ा था। ढाका आने पर उन्होंने पाणिनीय व्याकरण का सांगोपांग अध्ययन **पं० रजनीकान्त अमीन** तथा **पं० विधुभूषण गोस्वामी** के चरणों में बैठकर किया। पुस्तकों के संग्रह तथा अहर्निश अध्ययन में व्यस्त रहने का आदर्श ढाका के प्रवासकाल में ही उन्होंने **बाबू कालीप्रसन्न घोष** के जीवन से ग्रहण किया। अँगरेजी-साहित्य के अध्ययन की अभिरुचि भी उनके हृदय में इसी काल में जगी। इसके प्रेरक थे ढाका के जगन्नाथ कॉलेज के प्रिंसिपल **हेरम्बचन्द्र मैत्र**। इनके निर्देश से इंट्रेन्स कक्षा में ही उन्होंने अँगरेजी के प्रसिद्ध साहित्यकारों—**शेक्सपियर, मिल्टन, बाइरन, बर्ड्सवर्थ, इमर्सन** आदि की सारी कृतियाँ पढ़ डालीं। ऐसे उदार तथा योग्य गुरुजनों की छत्रच्छाया में अपने जीवन के दो महत्त्वपूर्ण वर्ष व्यतीत कर उन्होंने सन् १९०५ ई० में इण्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण की।

अब उच्च माध्यमिक कक्षा में प्रवेश की समस्या सामने आई। दैवदुर्विपाक से इन्हीं दिनों मलेरिया के आक्रमण से वे महीनों शय्याग्रस्त रहे। इसलिए, सन् १९०५ ई० की जुलाई से आरम्भ होनेवाले सत्र में पढ़ाई स्थगित रही। वायु-परिवर्त्तन के लिए डॉक्टरों की सलाह पर वे देवघर गये। पैसे पास में थे नहीं, इसलिए रुग्णावस्था में भी उन्हें वहाँ ट्यूशन करना पड़ा। यह प्रवास-काल आध्यात्मिक उपलब्धि के विचार से विशेष फलप्रद सिद्ध हुआ—**महात्मा शिशिरकुमार घोष** और **धर्माचार्य रामदयाल मजूमदार** के सत्संग-लाभ का सुयोग प्राप्त कर वे कृतकृत्य हो गये। घोष महाशय से परलोक-सम्बन्धी आलोचना में अभिरुचि जगी तथा मजूमदारजी से त्यागमय धार्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। वह वर्ष स्वास्थ्य-लाभ करने में ही बीत गया।

सन् १९०६ ई० की जुलाई में एफ्० ए० में भरती होने की समस्या उपस्थित हुई। मलेरिया के भय से बंगाल में रहना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। बाहर जाकर पढ़ाई चलाने के लिए अपेक्षित धन का अभाव था। ऊहापोह में कुछ दिन बीत गये। इस बीच एक अज्ञात शक्ति उन्हें जयपुर जाने की प्रेरणा देने लगी। मन को समझाने के लिए कुछ अनुकूल तर्क गढ़ लिये—जयपुर मलेरिया-मुक्त स्थान है, वहाँ का मुख्यमन्त्री बंगाली है, वह वीरों की

भूमि है—आदि-आदि। संकल्प दृढ हो जाने पर उन्नीस वर्ष की छोटी आयु में, सन् १९०६ ई० की जुलाई को ज्ञानार्जन की उत्कट पिपासा शान्त करने के लिए कुछ पुस्तक और यथोपलब्ध यात्राव्यय लेकर उन्होंने एक अपरिचित प्रदेश के लिए अकेले प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचने पर, बंगाली उच्चारण की विचित्रता से, मुख्यमन्त्री **बाबू संसारचन्द्र** का मकान ढूँढ़ने में पूरा एक दिन लग गया। ईश्वर की कृपा से **महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री** के छोटे भाई **मेघनाद भट्टाचार्य** ने शरण दे दी। इन्हीं की संस्तुति से प्रधानमन्त्री **संसारचन्द्र** ने उनके निवास और भोजन की स्थायी व्यवस्था कर दी। महाराजा कॉलेज में प्रवेश मिल गया। पन्द्रह रुपये मासिक की छात्रवृत्ति भी स्वीकृत हो गई। अतः, अध्ययन सुचारु रूप से चलने लगा। इसी वर्ष (सन् १९०६ ई० में) अखिलभारतीय काँगरेस का कलकत्ता-अधिवेशन हुआ। **गोपीनाथजी** इसमें राजस्थान के प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुए, इस लोभ से कि वहाँ देश की विशिष्ट प्रतिभाओं के दर्शन का सुअवसर प्राप्त होगा। जयपुर में अध्ययन करते समय उन्होंने भारतीय धर्म-दर्शन तथा पुरातत्त्व के अतिरिक्त मध्ययुगीन यूरोपीय साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया। सन् १९१० ई० में वे वहाँ से बी० ए० की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर आगे की शिक्षा में सहायतार्थ स्नेहियों से कुछ परिचय-पत्र लेकर कलकत्ता चले आये।

एम्० ए० की पढ़ाई कहाँ हो? इस सम्बन्ध में उनके समक्ष दो विकल्प थे—कलकत्ता तथा काशी। कलकत्ता मलेरिया का क्षेत्र था, अतः वहाँ रहने का साहस न कर सके। इस बार काशी का आकर्षण निर्णायक सिद्ध हुआ। वहाँ उनके चाचा **पं० दीनबन्धु कविराज** केदारघाट पर रहते थे। इतना सहारा काशी-निवास के लिए पर्याप्त था। कॉलेज में प्रवेश के लिए उपस्थित होने पर प्रथम साक्षात्कार में ही **डॉ० वेनिस** संस्कृत-साहित्य तथा पुरातत्त्व में उनकी अद्भुत गति देखकर आश्चर्यचकित हो गये। उनकी रुचि को देखकर इन्होंने अपने निर्देशन में भारतीय इतिहास तथा पुरातत्त्व के प्रसिद्ध विद्वान् **महामहोपाध्याय पं० कैलाशचन्द्र शिरोमणि** एवं **पं० वामाचरण सान्याल** के सान्निध्य में प्राचीन परिपाटी से संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था करा दी। इन दोनों पाठ्यक्रमों की कक्षाओं में उपस्थित होने के लिए कविराजजी को केदारघाट से संस्कृत-कॉलेज दो बार नित्य पैदल आना-जाना पड़ता था। इससे उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। दुर्बल शरीर कठोर श्रम सहन न कर सका। सत्रान्त में एम्० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा देने वे इलाहाबाद गये। परीक्षाकाल में ही मलेरिया का आक्रमण हो गया। इस आपत्तिकाल में उनके सहपाठी **आचार्य नरेन्द्रदेव** ने बड़ी तत्परता से चिकित्सा कराई। किसी प्रकार परीक्षा समाप्त कर वे काशी आये। ग्रीष्मावकाश में जन्मभूमि गये, किन्तु स्वास्थ्य में कोई सुधार न हुआ। वहाँ से सन् १९११ ई० की जुलाई में एम्० ए० द्वितीय वर्ष में नाम लिखाने काशी आये। परन्तु, गिरते हुए स्वास्थ्य ने अध्ययन का क्रम स्थगित करने के लिए विवश कर दिया। हृदयाघात से स्थिति बिगड़ती देखकर **डॉ० वेनिस** ने चिकित्सा के लिए उन्हें कलकत्ता भेज

दिया और उसका सारा व्यय छात्रवृत्ति देकर पूरा किया। इस प्रकार, सन् १९११-१२ ई० का सत्र स्वास्थ्य-लाभ में ही समाप्त हो गया।

सन् १९१२ ई० की जुलाई में वे एम्० ए० द्वितीय वर्ष में भरती हुए। अब उनके अभिभावक **पं० दीनबन्धु कविराज** देवनाथपुरा में रहने लगे थे। वहाँ से भी कॉलेज दूर था। अतः, **डॉ० वेनिस** ने १० अगस्त (१९१२ ई०) को कॉलेज के छात्रावास में ही रहने के लिए उन्हें एक कमरा दे दिया। सन् १९१३ ई० के अप्रैल महीने में वे स्नातकोत्तर परीक्षा देने इलाहाबाद गये। उस वर्ष मौखिकी के परीक्षक प्रसिद्ध पुराविद् **डॉ० डी० आर्० भाण्डारकर** थे। डॉ० वेनिस को यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि कविराजजी ने उस परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान ही नहीं प्राप्त किया था, अपितु पूर्ववर्त्ती छात्रों द्वारा स्थापित अंकप्राप्ति के सारे कीर्त्तिमान भी उन्होंने पीछे छोड़ दिये थे।

इस असाधारण सफलता के फलस्वरूप, परीक्षाफल प्रकाशित होते ही, ओरियेण्टल कॉलेज, लाहौर तथा मेयो कॉलेज, अजमेर से उनकी नियुक्ति-विषयक दो तार डॉ० वेनिस के पास आ गये, किन्तु वृत्ति में लगने से बौद्धिक विकास रुक जायगा, इस आशंका से इन्होंने उन्हें अपने निर्देशन में शोध करने का आदेश दिया और उनके लिए स्नातकोत्तर अनुसन्धायक की छात्रवृत्ति स्वीकृत कर उनसे सन् १९१३ ई० की जुलाई में अशोक के शिलालेखों पर एक ग्रन्थ तैयार करने को कहा। इसके एक वर्ष बाद अवसर मिलते ही **डॉ० वेनिस** ने सन् १९१४ ई० की ४ फरवरी को उनकी नियुक्ति 'सरस्वती-भवन' के ग्रन्थालयी पद पर कर दी। सन् १९१५ ई० में डॉ० वेनिस इलाहाबाद-विश्वविद्यालय में पोस्ट वैदिक प्रोफेसर के पद पर आसीन हुए। उसी विभाग के अन्तर्गत रीडर पद की सृष्टि होने पर इन्होंने उसपर कविराजजी की नियुक्ति करा दी। इस पद के साथ ही वे रजिस्ट्रार तथा परीक्षायोजक का भी काम सँभालते रहे। संस्कृत-कॉलेज के प्राचार्य-पद पर डॉ० वेनिस के उत्तराधिकारी **म० म० पं० गंगानाथ झा** हुए। ये भी **डॉ० वेनिस** के शिष्य थे, अतः कविराजजी से बड़ा स्नेह रखते थे। सन् १९२४ ई० में डॉ० झा के सेवानिवृत्त होने पर उस स्थान पर कविराजजी प्रिन्सिपल बनाये गये।

संस्कृत-कॉलेज में स्नातकोत्तर शिक्षा के लिए काशी-आगमन के कुछ ही समय बाद से कविराजजी की रुचि और अध्ययन की दिशा में परिवर्त्तन संघटित होना आरम्भ हो गया था। पुरातत्त्व और अँगरेजी-साहित्य के अध्ययन से विरत होकर उनका मन उत्तरोत्तर भक्ति तथा दर्शन में रमता गया। यूरोपीय, मध्य-एशियाई तथा भारतीय गुह्यविद्या-सम्बन्धी साहित्य का गम्भीर अनुशीलन में वे प्रवृत्त हुए। गोरखपन्थ, तान्त्रिक दर्शन, काश्मीर शैवदर्शन तथा गौडीय वैष्णव धर्म—उनके विशेष अध्ययन के क्षेत्र बन गये। स्वाध्याय के साथ ही सत्संग और साधुदर्शन का भी क्रम नियमित रूप से चलने लगा। बाल्यावस्था में **स्वामी शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द** का 'आर्यशास्त्रप्रदीप' नामक ग्रन्थ पढ़कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए थे। काशी आने पर संयोगवश एक दिन इनका साक्षात्कार प्राप्त कर वे आनन्द-विह्वल हो गये। इन महाशय की योगसिद्धि, स्वच्छन्द प्रवृत्ति, अनन्य रामभक्ति तथा अगाध

ज्ञान से प्रभावित होकर कविराजजी की इच्छा इनसे मन्त्रदीक्षा लेने की हुई। तदर्थ सहमत न होने पर भी स्वामीजी उनके आत्मिक विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। सन् १९१७ ई० तक कविराजजी को इनका वरद हस्त प्राप्त रहा। योगत्रयानन्द महाशय के सम्पर्क से उन्हें भगवान् की कृपाशीलता एवं शरणागतवत्सलता में अगाध विश्वास हो गया।

स्वामी योगत्रयानन्द के ही अनुग्रह से कविराजजी को, इनसे वियुक्त होने के एक वर्ष के भीतर ही गुरुचरणों की प्राप्ति हो गई। उन दिनों **परमहंस स्वामी विशुद्धानन्द** काशी में ही, निवास करते थे। कुछ दिनों के सम्पर्क के अनन्तर उनकी अलौकिक सिद्धियों और आध्यात्मिक विभूतियों से अभिभूत होकर सन् १९१८ ई० की २१ जनवरी को उन्होंने गुरुदेव के हनुमानघाट पर स्थित आश्रम में इनसे विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। इस काल में वे नियमित रूप से गुरुसेवा में उपस्थित होकर साधना-पथ पर अग्रसर हुए। प्रिन्सिपल के पद का उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यभार, परमार्थ-चर्चा में निरन्तर व्यवधान उपस्थित करता था। कॉलेज की व्यवस्था, अनुशासन आदि औपचारिक कार्यों में काफी समय निकल जाता था। यह व्यावहारिक जीवन-पद्धति उनकी बदली हुई मनोदशा के प्रतिकूल पड़ती थी। फिर भी, दैवनियोजित कर्त्तव्य समझकर सन् १९३७ ई० तक वे किसी प्रकार उक्त पद पर कार्य करते रहे। इसी वर्ष उन्हें 'बेरीबेरी' की बीमारी हो गई। उसने उनका स्वास्थ्य जर्जर कर दिया। इसी के आसपास सन् १९३७ ई० की ११ जुलाई को उनके गुरुदेव का लोकान्तरण हो गया। इस घटना ने उनकी बढ़ती हुई विरक्ति-भावना को और भी उद्दीप्त कर दिया। उन्होंने प्रिन्सिपल के पद से कालपूर्व सेवा-निवृत्ति का दृढ़ संकल्प कर लिया और उसकी सूचना शासन को दे दी। सरकार ने अनेक सूत्रों से उनकी सेवाएँ सुरक्षित करने का प्रयास किया, किन्तु उनकी दृढ़ता देखकर उसे विवश होकर उन्हें सन् १९१७ ई० के १३ मार्च को सेवानिवृत्त करना पड़ा। इसी वर्ष सिगरा-स्थित उनका अपना मकान तैयार हो गया और अवकाश-ग्रहण के तत्काल बाद वे उसमें सपरिवार रहने लगे।

मनसा वीतराग होते हुए भी कविराजजी व्यक्तिगत औदार्य एवं पारिवारिक उत्तर-दायित्व के निर्वाह में सतत सचेष्ट रहे। अवकाश लेने के बाद आय के स्रोत क्षीण हो जाने के बावजूद वे अपनी दिवंगता धर्मपत्नी **वामासुन्दरी** की पुत्री **स्वर्णमयी देवी** और इनके पति **कैलाशचन्द्र नियोगी** को पूर्ववंग से काशी ले आये और इनके जीवनपर्यन्त सारा व्ययभार वे स्वयं वहन करते रहे। इसी प्रकार, अपने द्वारा पुत्रवत् पोषित **सीताराम पाण्डेय** के भी कुटुम्ब को साथ रखकर उसके योगक्षेम की आजीवन व्यवस्था करते रहे।

सेवानिवृत्ति के अनन्तर कविराजजी का सारा समय प्रवचन, स्वाध्याय, सन्तदर्शन और आध्यात्मिक विषयों पर साहित्य-रचना में बीतने लगा। पुत्री **सुधारानी** का विवाह सन् १९२५ ई० में ही कर दिया था। पुत्र **जितेन्द्रनाथ** भी सन् १९३३ ई० में गृहस्थी के बन्धन में बँध गये और सन् १९४६ ई० में इनकी सेवावृत्ति की भी व्यवस्था हो जाने से वे उस ओर से भी निश्चिन्त हो गये। किन्तु, इसके कुछ ही समय बाद एक वज्रपात ने परिवार की सुख-शान्ति सदा के लिए समाप्त कर दी। पाँच-छह घण्टे की सामान्य बीमारी से, अत्यन्त रहस्य-

पूर्ण स्थिति में, माता-पिता के देखते-देखते उनके पुत्र का शरीरान्त हो गया। घर की हर ईंट, माँ, पत्नी, बच्चों और बन्धु-बान्धवों के असह्य आर्त्तनाद से विगलित हो उठी। किन्तु, कविराजजी इस भीषण कुहराम के मध्य पूर्ववत् शान्त एवं स्थितप्रज्ञ बने रहे। स्वजनों ने पुत्र के शवदाह की व्यवस्था की। इस घटना के कुछ ही घण्टों बाद वे अपनी नियमित अध्यात्मचर्चा में लग गये। शोक-समवेदना के लिए समागत मित्र और परिचित यह दृश्य देखकर अवाक् थे। दो महीने बाद पुत्रवधू भी दिवंगत हो गई। उसके तीन सन्तानें थी—दो पुत्रियाँ और एक पुत्र। यथासमय इनके विवाह की व्यवस्था करके कविराजजी उस पारिवारिक दायित्व से भी निवृत्त हो गये। पुत्रशोक से माँ का स्वास्थ्य निरन्तर क्षीण होता गया। अन्ततोगत्वा, वे उठने-बैठने में भी अशक्त हो गईं। कभी-कभी अपनी पीडा व्यक्त करते हुए वे कहती थीं : 'बाबूजी तो ज्ञानी हैं, उनका मन आपलोगों से धर्म-चर्चा करने में बहल जाता है, किन्तु मैं कैसे धीरज धरूँ ? जितेन्द्र हमारी कमर तोड़कर चला गया !'

अवकाश ग्रहण करने के बाद साधना तथा अध्ययन-प्रवचन में निरन्तर व्यस्त रहते के कारण शारीरिक श्रम के अभाव में कविराजजी का स्वास्थ्य सुरक्षित न रह सका। पैरों के कमजोर हो जाने से सन् १९५७ ई० के बाद घूमना-फिरना प्रायः बन्द हो गया। सन् १९६१ ई० में पेचिश हो गई। काशी में उपचार से लाभ होते न देखकर **माँ आनन्दमयी** उन्हें निदान के लिए दिल्ली ले गईं। वहाँ परीक्षण करने पर असाध्य कैंसर का पता चला। तत्काल बम्बई ले जाकर उन्हें 'टाटा कैंसर-संस्थान' में **डॉ० बरजेस** द्वारा ऑपरेशन की व्यवस्था की गई। ईश्वर की कृपा से रोग निर्मूल हो गया। तेईस दिन अस्पताल में रहकर वे स्वास्थ्य-लाभहेतु पूना-स्थित माँ के आश्रम में चले गये। तबसे स्वास्थ्य सामान्यतः ठीक रहा। एक बार विषमज्वर की चिकित्सा में सूई लगाने के प्रतिक्रियास्वरूप श्रवणशक्ति क्षीण हो गई। वृद्धावस्था में, रक्त में शर्करा का अनुपात बढ़ जाने से अस्सी वर्ष की अवस्था के बाद से विशेष शिथिलता आ गई। सन् १९६९ ई० से अगस्त महीने के अन्तिम सप्ताह में भीषण मूत्रकष्ट हुआ। दैवयोग से उसी अवसर पर विश्व में उक्त रोग की शल्यचिकित्सा की नई विधि के आविष्कारक एक डॉक्टर का हिन्दू-विश्वविद्यालय के मेडिकल कॉलेज में एक दिन के लिए आगमन हुआ। इस सुविधा से लाभ उठाकर आश्रमवासियों ने, सन् १९६९ ई० के सितम्बर मास में, कविराजजी को वहाँ ले जाकर ऑपरेशन कराया। इससे कष्ट तत्काल और सदा के लिए दूर हो गया।

इसके अनन्तर कविराजजी की जीवनचर्या बिलकुल बदल गई। अर्द्धतन्द्रा में लीन-से रहते हुए वे शय्याग्रस्त हो गये। आँखों से भी कम दिखाई देने लगा, किन्तु चश्मे के प्रयोग से विरत रहे। आवश्यकता पड़ने पर बड़ी कठिनाई से हस्ताक्षर कर पाते थे। लिखना-पढ़ना तो बहुत पहले बन्द हो चुका था। दर्शनार्थियों और जिज्ञासुओं की भीड़ लगी रहती थी, किन्तु वे दृष्टिमात्र से सबको सन्तुष्ट करते हुए प्रायः मौन रहते थे। यह कालक्षेप जीवन्मुक्तावस्था के भोगरूप में हो रहा था। पहले तो किसी सेवक का सहारा

लेकर सामनेवाले बरामदे में कुछ टहल भी लेते थे, किन्तु सन् १९७५ ई० के बाद वह भी बन्द हो गया था। इस स्थिति में भी उनको सन्ध्या के नियमपालन का स्मरण बराबर रहता था। भीषण रूप से ज्वरग्रस्त रहने अथवा रक्तशर्करा के प्रकोप-काल में भी प्रातः-सायं सन्ध्या का मुहूर्त्त उपस्थित होने पर वे माला और चादर देने का संकेत करते। यदि बैठने से कष्ट होता, तो लेटे-ही-लेटे नियम समय से पूरा कर लेते। सन् १९७६ ई० के अप्रैल महीने में उन्हें कुछ दिन ज्वर रहा। उससे भोजन में अरुचि हो गई। फलतः, शक्ति क्षीण हो गई। मई आते-आते स्थिति गम्भीर हो गई। अचानक श्वास-कष्ट बढ़ गया। संवाद पाकर ५ मई को **माँ आनन्दमयी** प्रवास से एक दिन के लिए उन्हें देखने काशी आईं। दि० ६ मई के बाद अवस्था सुधरी, किन्तु वह लाभ क्षणस्थायी था। जून के प्रारम्भ में श्वासकष्ट का पुनः प्रकोप हुआ। इस बार गले से कुछ रक्त भी आया। हालत बिगड़ती देखकर उन्हें आश्रम से 'माँ आनन्दमयी-चिकित्सालय' में ले जाया गया। वहाँ ऑक्सीजन दिया गया और रक्त चढ़ाने की भी व्यवस्था हुई। किन्तु, सुधार के सारे प्रयास निष्फल सिद्ध हुए। शारीरिक स्थिति अन्तिम परिणति की ओर अग्रसर होती रही। दि० १२ जून की सन्ध्या को मातृशक्ति के उस अन्यतम भक्त का पार्थिव शरीर माँ की गोद में, चिरनिद्रा में लीन हो गया!

यही कविराजजी के भौतिक जीवन की स्थूल रूपरेखा है। तन्त्रशास्त्र के मर्मज्ञ होते हुए भी परमार्थ-साधन में उन्होंने स्वयं तो शव-साधना की प्रक्रिया का कभी आश्रय नहीं लिया, किन्तु परिस्थितियों ने उनकी जीवन-यात्रा को ही शव-साधना का रूप दे दिया : मातृगर्भ में रहते समय ही उनके पिता की मृत्यु, उसके शीघ्र पश्चात् निराश्रिता माँ और पुत्र के अनन्य आश्रयदाता नाना कालाचन्द सान्याल का अकस्मात् देहावसान, विवाहित युवक पुत्र का आँखों के सामने सहसा निधन, निराश्रिता पत्नी और छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर दामाद का शरीरान्त और पुत्रशोक की अन्तर्ज्वाला में आजीवन जलती हुई पत्नी का लोकान्तरण—एक के बाद दूसरे शव के विसर्जन के ये हृदयद्रावक दृश्य उनके जीवनपट पर चलचित्र की भाँति गुजरे थे। लोकार्थ तथा परमार्थ-साधन का मूल उपादान शरीर बाल्यावस्था से ही व्याधि-मन्दिर बन गया था। कोमल वय में दीर्घकालव्यापी मलेरिया का प्रकोप, उसके भय से बंगाल से राजस्थान में पलायन, स्नातकोत्तर परीक्षा के समय ज्वर का आक्रमण, रोगाक्रान्त निर्बल शरीर पर हृद्रोग का आघात, परिणत वय में 'बेरीबेरी' के उपद्रव से शक्तिक्षीणता, पदनिवृत्त होने के बाद कैंसर जैसे प्राणलेवा रोग का प्राकट्य, वार्द्धक्यजर्जर शरीर में मूत्रकृच्छ्र व्याधि की उत्पत्ति और रक्तमधु की उपस्थिति से आलस्य तथा शिथिलता की निरन्तर व्याप्ति—इस प्रकार अनगिनत व्याधियों से अहर्निश जूझते हुए ही उनके अशक्त चरणों ने जीवन की, दंश से भरी, लम्बी यात्रा पूरी की। ऐसे एक-दो धक्के ही बड़े-से-बड़े पुरुषार्थी और धैर्यवान् व्यक्ति को धराशायी कर देते हैं, किन्तु कविराजजी इन सारी आपत्तियों को प्रारब्ध का भोग मानकर, शरीर-धारण का फल समझकर, अविचल भाव से झेलते रहे। उनकी आत्मा की तो बात ही क्या, मन भी उससे असम्पृक्त तथा अप्रभावित रहा। लौकिक जीवन के

दृश्यमान अन्धकार पर विजय प्राप्त करने में उनका अन्तःप्रकाश सहायक हुआ था। इस आत्मज्योति की पहचान और अनुभव उन्होंने शरीर से ऊपर उठकर प्राप्त किया था।

आत्मतत्त्व के निगूढतम प्रदेश में प्रवेश प्राप्त करने के लिए उन्होंने स्वाध्याय तथा साधनापूर्ण जीवन बाल्यावस्था से ही व्यतीत किया था। जीवन की विषम परिस्थितियों में यह क्रम निर्बाध रूप से चलता रहा। ढाका के छात्र-जीवन की एक घटना से विदित होता है कि उनके मानस में दिव्यानुभूतियों का प्रकाश किशोरावस्था से ही होने लगा था। एक दिन स्नान के लिए जाते समय दिव्यलोक का दर्शन कर वे घण्टों नदी की उपकण्ठ भूमि में बेसुध पड़े रहे थे। संस्कार-रूप में उपलब्ध इस उन्नत आध्यात्मिक स्थिति की रक्षा एवं संवृद्धि साधु-दर्शन, सत्प्रसंग तथा सत्साहित्यानुशीलन द्वारा की गई। किन्तु, इस प्रक्रिया में उन्होंने कभी अन्धविश्वास को प्राश्रय नहीं दिया। सन्तों के शास्त्रज्ञान तथा बाह्य प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर उनके अन्तरंग जीवन का अन्वीक्षण ही उनका इष्ट रहा। सत्संग-वार्त्ता के क्रम में वे शास्त्रों में वर्णित तत्त्वों के साथ साधक के निजी अनुभवों की तुलना द्वारा ही उसके आध्यात्मिक उत्कर्ष का स्तर-निर्धारण करते थे। प्रथम दर्शन में ही अपनी प्रकृत दृष्टि से वे इनके वैशिष्ट्य को परख लेते थे। यदि इनके ज्ञान अथवा साधना में कोई विशेष आकर्षण का तत्त्व न भी मिलता, तो भी वे निराश नहीं होते थे। इनकी रहनी में ही किसी वैलक्षण्य का अनुसन्धान कर वे तृप्त हो जाते थे। ऐसी विलक्षणता को इन्हीं के नेत्र लक्षित कर सकते थे। यह उनकी तत्त्वग्राहिणी जिज्ञासु वृत्ति की चरम परिणति थी। सन्तों की जाति, सम्प्रदाय, आश्रम तथा दर्शनगत विभिन्नता की उपेक्षा कर उन्होंने अनेक मतों और साधना-पद्धतियों के अनुयायी महापुरुषों का सम्पर्क प्राप्त किया और प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी विचारधाराओं के महात्माओं को समान रूप से महत्त्व दिया। यह समन्वयात्मक उदार दृष्टि उन्हें आगम-साहित्य के अनुशीलन से प्राप्त हुई थी। विविध रूपात्मक जगत् में मौलिक एकसूत्रता का सन्धान आगमों की समन्वयात्मक दृष्टि ही कर सकती है, यह उनका दृढ विश्वास था। आगमों को वे सभी दर्शनों का संयोजक तथा द्वैत और अद्वैत-ग्रन्थि का भेदक मानते थे। इसलिए, मानव-चिन्तन के व्यापक फलक तथा अनुभव-स्तर में सोपानपरम्परा-न्याय से वे प्रत्येक धर्म और दर्शन की उपयोगिता को स्वीकारते और उसके वैशिष्ट्य का सत्कार करते थे।

आज के वैज्ञानिक युग में चमत्कारों को अविश्वसनीय एवं उपहासास्पद समझा जाता है। कविराजजी ने योगदर्शन के विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों की यथार्थता का प्रत्यक्षानुभव सिद्ध महापुरुषों के संसर्ग में रहकर किया था। उन्होंने **गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द** का सूर्यविज्ञान द्वारा अभीष्ट कार्यों का सम्पादन एवं वस्तुओं की सृष्टि, **रामठाकुर महाशय** की आकाशमार्ग से यात्रा, सिद्धिमाता के शरीर में ज्योतिर्मय कायाभेदी वाणी का प्राकट्य, **तारकेश्वरी माँ** की रोगशमन-क्षमता, **ज्योतिजी** और **केदारमालकर** का सूक्ष्म देह से दिव्यलोक-भ्रमण आदि आश्चर्यजनक कृत्य उन्होंने अपनी आँखों से देखे थे और अनुगतों के लिए उनका साक्षात् अनुभव प्राप्त करने की व्यवस्था थी। इसी प्रकार, कालजयी तथा सिद्धदेह-

धारी महात्माओं से परिचय और हिमालय में दिव्याश्रमों के अस्तित्व का बोध उन्हें गुरुदेव तथा **रामठाकुर महाशय** के साहचर्य से प्राप्त हुआ था। कभी अलक्षित रूप से और कभी सहसा प्रकट होकर सन्तों द्वारा आश्रितों की रक्षा और पथ-प्रदर्शन के वृत्त उन्होंने प्रामाणिक महापुरुषों तथा उपकृत साधकों के मुख से सुने थे। इसकी परितः पुष्टि गुरुदेव के शरीरत्याग के पश्चात् भी उनसे प्रत्यक्ष सम्पर्क तथा दिशानिर्देश लाभ करने पर हुई। इतना होते हुए भी वे सिद्धियों और चमत्कारों के प्रदर्शन को आध्यात्मसाधना की उत्कृष्ट स्थिति का द्योतक नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में परमहंस विशुद्धानन्दजी से उन्होंने एक बार स्वयं जिज्ञासा की थी : 'इन योगविभूतियों से अध्यात्म-साधना का क्या सम्बन्ध है? इसे लेकर हम क्या करेंगे?' इसके उत्तर में बाबा ने चमत्कार का उद्देश्य योगविज्ञान में आस्था उत्पन्न करना-मात्र बताया था। इसी प्रकार गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने मन्त्रशक्ति का भी प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया था। दीक्षा लेने के बाद उन्होंने सात दिन तक अनुष्ठानपूर्वक मन्त्रजप किया था। अन्तिम दिन सारा पूजागृह अलौकिक विद्युत्प्रवाह से आवेशित हो गया। फिर, गुरुदेव से बताया कि एक छोटे-से मन्त्र में जितनी शक्ति है, उतनी सम्पूर्ण विश्व की पुंजीभूत विद्युत्-शक्ति में सम्भव नहीं है। इसी प्रकार, पारलौकिक विश्व के सम्बन्ध में शास्त्रीय उल्लेखों के समर्थन के लिए उन्होंने उस क्षेत्र में रुचि एवं गति रखनेवाले साधकों से सम्पर्क स्थापित कर अपनी जिज्ञासा निवृत्त की थी। **केदारमालाकर** को सूक्ष्म शरीर से दिव्यलोक-भ्रमण का निर्देश देकर उसके द्वारा किये गये विवरण को उन्होंने सर्वथा शास्त्रसम्मत पाया था। तात्पर्य यह कि उनकी क्रान्तदर्शी प्रतिभा ने अध्यात्मविषयक प्राचीन मान्यताओं को प्रत्यक्षानुभव की कसौटी पर कसने के बाद ही अपनी आस्था का अभिन्न अंग बनाया था।

यह तत्त्वानुसन्धान-पद्धति कविराजजी की अपनी अन्तरायत्त सम्पत्ति थी, किसी बाह्य गुरु अथवा महात्मा से प्राप्त नहीं। वे योग, तन्त्र तथा आगमशास्त्र के विश्व में अन्यतम विद्वान् माने जाते थे। किन्तु, उन्हें इन शास्त्रों का उपदेश देनेवाले गुरु का सन्धान आजतक न उनकी जन्मभूमि बंगदेश में प्राप्त हो सका, न कर्मभूमि काशी में। इस विषय पर प्रश्न करने पर भी श्रीचरणों ने नकारात्मक उत्तर ही दिया। संयोगवश, उन्होंने स्वानुभूति-संवेदन की जो सामग्री इन पंक्तियों के लेखक को दी है और जिज्ञासुओं को लिखे गये पत्रों में अनुभवसिद्ध योगी के रूप में उच्च आध्यात्मिक दशाओं का जैसा आधिकारिक निरूपण किया है, उससे उनके ज्ञानार्जन का स्रोत अनायास ही विवृत हो जाता है।

जीवन के महालक्ष्य से सम्बद्ध अनुभवों का प्रकाश कविराजजी को लोकयात्रा के आरम्भिक काल से ही होने लगा था। सन् १९१६ ई० में, रेवाड़ी स्टेशन पर एक बेंच पर बैठे हुए उन्हें सहसा दिव्यानुभव का प्रकाश मिला। इसके बाद कुछ वर्षों तक लम्बे व्यवधान के बाद उसकी आवृत्ति होती रही। सन् १९१८ ई० में दीक्षा के पश्चात् गुरुदेव ने स्वप्न में दर्शन देकर उन्हें ज्योति और प्रकाश का अन्तर समझने का आशीर्वाद दिया। इनके द्वारा उपदिष्ट रीति से साधना करते-करते उन्हें दिव्य बोध की उपलब्धि हो गई। उन्हें ज्ञात

हुआ कि प्राकृत प्रकाश से बाह्य जगत् तथा अप्राकृत प्रकाश से नित्यधाम, प्राकृत देह आदि प्रकाशित होते हैं। विशुद्ध प्रकाश अथवा चिदात्मक स्वयम्प्रकाश विशुद्ध स्वरूप का विस्फुरण है। इस बोध के साथ ही उनके अध्यात्मविषयक सारे संशय निवृत्त हो गये, फिर गुरु-शिष्य में प्रबुद्ध-प्रबुद्ध्यमान भाव से आन्तरिक प्रक्रिया द्वारा प्रश्नोत्तर सहज ही चलने लगा। प्रबुद्ध्यमान सत्ता और नित्य प्रबुद्ध सत्ता दोनों का परस्पर उन्मुख होना ही योगियों की आवर्त्तन-क्रिया है। इसके द्वारा उनके सारे संशय छिन्न हो गये। अपेक्षित साधना-पद्धतियों और शास्त्रों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो गया। इस प्रकार की अनुभूतियों के अवतरण-काल में उनकी आँखों के सामने से प्राकृत आवरण हट जाता था और दैवी वाणी स्पष्ट सुनाई देने लगती थी, भीतर से शब्द विद्युत्प्रकाश की भाँति प्रस्फुटित होते थे। स्मृति-पटल पर अंकित उन शब्दों को वे बाद में लेखबद्ध कर लेते थे। आध्यात्मिक मनोदशाओं का निरूपण करते समय यदा-कदा उद्दीप्त उनका सात्त्विक आवेश परमसत्ता के प्रत्यक्ष और तात्कालिक बोध का ही फल था।

अखण्ड आत्मानन्द में निरन्तर मग्न रहते हुए उन्हें जीवन के घोर झंझावात प्रभावित नहीं कर सके। बड़ी-से-बड़ी आपत्तियाँ आईं, किन्तु वे महासागर की सतह का स्पर्श करती हुई क्षितिज में लीन हो गईं। स्वाराज्य के अपार वैभव के भोक्ता उस महामानव की दृष्टि में लौकिक पद-प्रतिष्ठा सदैव तुच्छ एवं उपेक्षणीय रही। उनके साधनापुष्ट पाण्डित्य की अभ्यर्थना में शासन तथा राष्ट्र की गण्यमान्य संस्थाओं ने उपाधियों की वर्षा की, किन्तु वह उस लोकोत्तर महापुरुष के प्रशान्त मानस को रंचमात्र भी हर्षोद्वेलित न कर सकी।

जीवनव्यापी अर्थाभाव उनकी परमार्थ-साधना में किंचिन्मात्र भी व्यवधान उपस्थित करने में समर्थ न हो सका। इस प्रकार, उनकी अखण्ड महायोग-साधना लोकलीला में पदे-पदे प्रकाशित होती रही। उनकी दार्शनिक अनुभूतियाँ आचरण में व्यक्त हो साधकों के लिए प्रेरणास्रोत बन गईं। ज्ञान आचार का स्वरूप प्राप्त कर कृतार्थ हो गया।

आज कविराज महाशय का पांचभौतिक शरीर हमारे बीच नहीं है। उनकी अपनी धारणा थी कि महायोगी का कभी देहावसान नहीं होता। अतः, देहत्याग उस महायोगी के लिए एक औपचारिक भौतिक क्रियामात्र थी। हमारा विश्वास है कि देह-बिन्दु की उपाधि से मुक्त होकर अब वे निरुपाधिक धरातल से अपनी पुंजीभूत साधना की रश्मियाँ विकीर्ण कर मोहान्धकार में भ्रान्त मानवता का पथ-निर्देश करेंगे।

काशी की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या करते हुए वे कहा करते थे **'काशी काशते तत्त्वम्।'** मेरे विचार में इस पुण्यस्थली की सारस्वती परम्परा के अन्यतम निर्वाहक और तत्त्वातीत परमपद के भोक्ता तीर्थस्वरूप महामानव के कृतित्व का प्रकाश शतियों तक इसके प्रकृत वैशिष्ट्य की रक्षा करता रहेगा। ●●

☐ **हिन्दी-विभागाध्यक्ष**
गोरखपुर-विश्वविद्यालय
गोरखपुर (उ० प्र०)

आगमिक साधना का सांस्कृतिक सन्दर्भ

☐ डॉ० श्रीराममूर्त्ति त्रिपाठी

संस्कृति जीवनमूल्यों का नामान्तर है। यह सर्ववादिसम्मत तथ्य है कि भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का मध्यकाल आध्यात्मिक साधना और संस्कृति की दृष्टि से पूर्णतः आगमिक है। वह इसलिए कि मध्यकालीन साधना में 'शक्ति' की ही साधना केन्द्रीय साधना हो गई थी। इसी साधना और तद्गम्य उपलब्धि को सर्वोपरि जीवनमूल्य के रूप में निर्धारित किया गया था। चाहे बौद्ध हों या नाथ, निर्गुणवादी सन्त हों या सूफी, वैष्णव-साधना हो या शैव-साधना, सर्वत्र किसी-न-किसी रूप में शक्ति की ही साधना चल रही थी—'शक्ति', अर्थात् चिन्मयी निजा शक्ति। चिन्मयी निजा शक्ति की साधना ही आगमिक साधना है।

निजा शक्ति का आगमसम्मत स्वरूप :

परमतत्त्व को अद्वयात्मक मानकर उसकी निजा शक्ति के रूप में चिन्मयी शक्ति की कल्पना के बीज नैगमिक साहित्य में मिल सकते हैं, पर उसका पल्लवन और प्रसार आगम और तन्मूलक दार्शनिक वाङ्मय में विचार के साथ हुआ है, निगममूलक कहे जानेवाले आस्तिक दर्शनों में नहीं। न्याय और वैशषिक तो 'शक्ति' नामक पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं मानते। सांख्य और पातंजल **'प्रतिक्षणं परिणामिनो हि भावाः, ऋते चितिशक्तेः'** जैसे वक्तव्यों से चितिशक्ति का नाम तो अवश्य लेते हैं, पर उससे उनका अभीष्ट पुरुष-तत्त्व ही है, परमेश्वर ही है; तदाश्रिता निजा शक्ति जैसा कोई तत्त्वान्तर नहीं। मीमांसा 'शक्ति' तो मानती है, परन्तु उसे जड मानती है, न कि चिन्मय। शांकर अद्वैत-वेदान्त मायाशक्ति की बात करता हुआ भी उसे अनिर्वचनीय, जड, अन्ततः मिथ्या तथा ज्ञाननिवर्त्य मानता है। वेदान्त की अन्य शाखाओं में यदि निजा शक्ति के रूप में कहीं कोई संकेत है, तो वह निश्चय ही आगमिक चिन्तन का प्रभाव है। इस प्रकार, समग्र मध्यकाल इसी चिन्मयी निजा शक्ति की साधना में रत है।

बौद्ध साधना और आगमसम्मत शक्ति :

मध्यकाल में बौद्ध, नाथ, शैव तथा रामकृष्णाश्रमी वैष्णवों के साथ निर्गुणवादी सन्त और सूफी, सभी किस प्रकार आगमिक होकर शक्ति-साधना में लीन हो रहे थे, इसका संक्षिप्त, पर सारगर्भ विवरण आवश्यक है। **कविराजजी** की धारणा है कि महायान-धर्म

के विकास में शाक्तागम का पूर्ण प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। वहाँ बुद्ध और प्रज्ञापारमिता का वही सम्बन्ध है, जो आगमों में शिव और शक्ति का है। बौद्ध तान्त्रिक-सम्प्रदाय के विश्वास के अनुसार, भगवान् ने धान्यकटक में मन्त्रनय का तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया था, इसी मन्त्रमार्ग में वज्रयान, कालचक्रयान तथा सहजयान आविर्भूत हुए। मन्त्रनय की ये ही तीनों धाराएँ बौद्ध तान्त्रिक साधना का वैशिष्ट्य माना जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि (मन्त्रनय तो है ही) पारमिता-नय भी तान्त्रिक कोटि का ही गिना जायगा। उनकी दृष्टि से शक्ति और कुण्डलिनी का जागरण और बोधिचित्त का उत्पाद एक ही है। 'अद्वयवज्र-संग्रह' में तो स्पष्ट कहा गया है : **'शक्तिस्तु शून्यात्मा दृष्टिः।'** इसी शक्तिरूपा शून्यता तथा करुणा का सामरस्य बोधिचित्त में है।

नाथ-शैव-साधना और आगम-सम्मत शक्ति :

नाथ-शैव-साधना में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के अनुसार, नाथों का चरम लक्ष्य 'पिण्डपद-सामरस्य' है। पद, अर्थात् परमपद से पिण्ड का सामरस्य करने के लिए आवश्यक है, उसका चिन्मयीकरण और तदर्थ अपेक्षित है कायशोधन। इस प्रक्रिया में गुरु की अपेक्षा है। सद्गुरु के वाक्य, दृष्टि अथवा विलोकन द्वारा एक ही क्षण में चित्तविश्रान्ति होती है। विश्रान्ति के अनन्तर परमपद का साक्षात्कार होता है। तदनन्तर, पिण्ड का परमपद में समरसीकरण होता है। इस अवसर पर आत्यन्तिक निरुत्थान-दशा का उदय होता है और इसके उदय के लिए स्वरूपानुसन्धानवश निजावेश की पूर्वपीठिका रहती है। नाथपन्थ का यह समरस-तत्त्व द्वयात्मक अद्वयस्वरूप ही है। गोरखनाथ स्वयं कहते हैं :

गोरख कहे आहे चंचल ग्राहिया।
सिव सक्ती ले निजघर रहिया॥

अर्थात्, गोरख का कहना है कि उसने चंचल मन को पकड़ लिया है और शिव-शक्ति का मेल करके अपने घर (निज रूप) में रहने लगा है, अर्थात् पिण्डपद-सामरस्य में पहुँच गया है। इसी प्रकार और भी उद्धरण हैं :

मेरु दण्ड थिर करे स्यो शक्ति जोड़े।
कोई गुरु आराधीला जो ब्रह्म गांठि छोड़े॥

अर्थात्, मेरुदण्ड को स्थिर करके शिव और शक्ति को जोड़ना चाहिए। निष्कर्ष यह कि शक्ति-साधना का मूल स्वर यहाँ भी उदग्र है।

'प्रेमा पुमर्थो महान्' : मध्यकाल का स्वर :

मध्यकालीन साधना-राज्य की दूसरी विशेषता है—**'प्रेमा पुमर्थो महान्'** की उद्घोषणा। आत्मतत्त्व या निजस्वरूप को किसी-किसी ने परमप्रेमास्पद और किसी-किसी ने परमप्रेमात्मक ही कहा है और इसलिए उस काल के साधकों ने धर्मार्थकाममोक्ष जैसे चार पुरुषार्थों से भिन्न प्रेम को पंचम पुरुषार्थ मानते हुए उसे ही साध्य तथा सर्वाधिक स्पृहणीय माना है। एक ओर निर्गुणमार्गी कबीर के सम्बन्ध में 'भक्तमाल' में **नाभाजी**

का उद्घोष है : **'भक्ति विमुख जो धर्म नर्महं अधरम करि गायो'** और दूसरी ओर सगुणोपासक **तुलसी** की मान्यता है : **'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने'** (मा०, ६।११८।४)। **सूर** और **जायसी** के यहाँ भी प्रेममार्ग की ही महत्ता है और वही प्राप्य-साध्य है।

भक्ति तत्त्वतः शक्ति ही है :

साध्य रूप में यह भक्ति तत्त्वतः 'चिन्मयी निजा शक्ति' ही है। **म० म० कविराजजी** की दृढ धारणा है कि मध्यकालीन साध्य भक्ति की संगति आगम-प्रतिपाद्य निजा शक्ति की अभिन्नता में ही सम्भव है। सम्प्रति, चारों धाराओं के प्रतिनिधि भक्त कवियों की उक्तियों के साक्ष्य पर उक्त मान्यता को परीक्षित करना अपेक्षित है। इसके पूर्व सबके प्रति आस्था रखनेवाले **नाभादासजी** की एक उक्ति द्रष्टव्य है, जिससे भी उक्त मान्यता की पुष्टि होती है। उक्ति है :

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।
इनके पदवंदन किए नासत विघ्न अनेक॥ (भक्तमाल : मंगलाचरण)

इस उक्ति के माध्यम से जब नाभादास भक्ति, भगवन्त और गुरु के साथ भक्ति को भी अभिन्न करते हैं, तब निरुपाधिक रूप में जिस तरह वे तीनों चिन्मय हैं, उसी तरह भक्ति को भी चिन्मय मानना होगा, अन्यथा उक्त उक्ति केवल अर्थवाद होगी, भूतार्थवाद नहीं। इस काल के साधकों ने इस भक्ति को सोपान-भेद से साधन भी कहा है और साथ ही साध्य ही। चरमभूमि पर वह साध्य है और निम्नभूमि, अन्तःकरण या चित्तात्मक भूमि पर रागात्मक मनोदशा के रूप में साधना। पार्थिव काया में रागवृत्ति उसी चिन्मयी महाशक्ति की छाया है, प्रतिबिम्ब है। उसी रागात्मक वृत्ति का ऊर्ध्वमुख परिस्फुट रूप साध्य भक्ति, चिन्मयी शक्ति ही है। आगमों की घोषणा है : **'चिदेव चित्तम्।'** चित् ही चित्त रूप में परिणत है। चित्, चित्त, भक्ति राग और साध्य-साधन हो जाता है। अतः, चित्त ही तीन रूप में परिणत होकर या उसे आत्मलीन कर चित् बन जाता है।

निर्गुण भक्ति और शक्ति :

महात्मा **कबीर** द्वारा प्रवर्त्तित या समर्थित या गृहीत साधना 'सुरतशब्दयोग' संज्ञक साधना है। इस साधना को स्पष्ट करते हुए 'शारदातिलक' की पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

चेतनं सर्वभूतानां शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
तदेव कुण्डलीं प्राप्य प्राणिनां देहमध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥

अर्थात्, भूतमात्र में ओतप्रोत चिन्मय तत्त्व को शब्दब्रह्म कहा गया है, शब्द कहा गया है। यही शब्दतत्त्व अर्थरूप में परिणत होता हुआ प्राणिमात्र के गुह्यांगों के मध्यतः प्रसृत होता है और अन्ततः कुण्डलित हो जाता है। वस्तुतः, यह चिन्मय शब्दतत्त्व की निजा शक्ति ही क्रीडा के निमित्त उससे पृथक् होकर संसार-रूप में परिणत होती है और

अन्तःकुण्डलित होकर कुण्डलिनी शक्ति के रूप में शेष रह जाती है। ब्रह्माण्ड में, जिसका प्रतिरूप पिण्ड है, वही शक्ति पृथ्वी-तत्त्व तक प्रसृत होकर अन्ततः शेषनाग के रूप में स्थिर हो जाती है। अपने निज घर या रूप से क्रीडार्थ आत्मविस्मरणपूर्वक वही शक्ति 'सुरति' के रूप में नीचे उतरती है और इसीलिए उससे मिलने को व्याकुल रहती है। निर्गुण साधक इसी 'सुरति' या 'सुरत' का शब्द से योग कराते हैं, शक्ति और शक्तिमान् का सामरस्य चाहते हैं। भूमिका-भेद से वही निजा शक्ति 'सुरति' संज्ञा से विभिन्न वर्णिकाओं में याद की जाती है। इसी 'सुरति' का निज रूप 'शब्द' की ओर जो आकर्षण है, वही राग है, भक्ति है। कबीर के अनुसार, 'दरियाव', 'लहर' तथा 'आकर्षण'— सभी एक रूप हो जाते हैं। प्रेम या भक्ति की चरितार्थता भेद के सर्वथा विगलन में ही है। वहाँ साधना, साधक और साध्य सब एकरूप, अर्थात् चिन्मय हैं। इस प्रकार, कबीर के यहाँ रागात्मक साधना शक्ति की ही साधना है।

सूफी-साधना और शक्ति :

सूफी सन्तों में तो प्रसिद्ध ही है कि वे अपनी साधना और साध्य—सबमें प्रेममय हैं। मजाजी धरातल का इश्क हकीकी इश्क का सोपान है। ये मानते हैं कि हक (पारमार्थिक सत्य) या खुदी को पाने के लिए इश्क या प्रेम का मार्ग है। इस साधना-राज्य में अकल की दखल नहीं है, उसे बुद्धि से नहीं पाया जा सकता। उसे पाने का रास्ता हृदय से होकर गया है, कल्ब (हृदय) ही माध्यम है। उसकी दृष्टि में यह कल्ब अभौतिक है, दिव्य है, भौतिक और जड नहीं। जिक्र (स्मरण), मुराकबत (ध्यान) के माध्यम से इश्क की आग तेज की जा सकती है और इस आग में जीव और पर के बीच का परदा नफस—भस्म हो जाता है। निर्मल कल्ब से आत्मोपलब्धि हो जाती है। इस प्रकार कल्ब या 'हृदय' आगमों की भाषा में विमर्श-शक्ति ही है, जो अधोमुखी भूमिका में मलिन है, इश्क की साधना से वह निर्मल होकर स्वरूप से एकाकार हो जाती है। 'कल्ब' के माध्यम से उसका अनुभव होता है। उसकी स्वयम्प्रकाश्यता को तभी लक्षित कर सकता है, जब माध्यम कल्ब उसकी निजा शक्ति के ही रूप में माना जाय, अन्यथा वह परप्रकाश्य हो जायगा।

कृष्णाश्रयी शाखा और भक्ति (शक्ति) :

सगुणमार्गी कृष्णभक्तिधारा में तो नितान्त स्पष्ट और स्फुट है कि ऊर्ध्वमुख भाव ही प्रगाढता को प्राप्त होकर 'प्रेम' नाम से पुकारा जाता है। वहाँ 'भाव' ही 'महाभाव' रूप में परिणत होता है और राधा, जिसे निजा शक्ति आह्लादिनी के रूप में माना गया है, वही महाभावस्वरूपा मानी गई है। यहाँ स्पष्ट ही शक्ति और भक्ति को अभिन्न कहा जाता है। शक्तिरूपा राधा महाभावात्मिका प्रगाढ भक्ति ही है।

रामधारा और शक्ति :

रामधारा में मर्यादामार्गी के रूप में प्रख्यात **गोस्वामी तुलसीदास** का स्पष्ट मत है कि आत्मोपलब्धि के निमित्त ब्रह्मविद्या-मार्ग और भक्तिमार्ग दो हैं। पहला आयास-

साध्य है और वासना-बयार से बुझाया भी जा सकता है, जबकि दूसरा निरायास तथा मणि के समान झड़ी-झंझा में भी अविचल है। गोस्वामीजी ने स्पष्ट कहा है :

भगति करत बिनु जतन प्रयासा।
संसृतिमूल अविद्या नासा ॥ (मानस, ७।११८।४)

लीलापुरुषोत्तम चरम तत्त्व की इच्छाशक्ति का ही यह सब खेल है। गोस्वामीजी मायातीत इच्छाशक्ति स्वीकार करते हैं। वे उसे कभी-कभी आगमोक्त महामाया भी कहते हैं। यह इच्छाशक्ति शांकर ब्रह्म में मायातीत भूमिका पर अस्वीकृत तथा अचर्चित है। इसी इच्छाशक्ति से वह तत्त्व चिदानन्दमय तनु निर्मित करता है, जो 'मायागुनगोतीत' कहा गया है। निष्कर्ष यह है कि इस इच्छाशक्ति या निजा शक्ति से अभिन्न है वह साध्य शक्ति, जिसके द्वारा निरायास संसृतिमूलक आवरणात्मक अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, निज-स्वरूप-अनुभव में आ जाती है। सीता उनकी सृष्टि-स्थिति-संहारकारिणी इच्छाशक्ति ही है, जिसके विना 'विनयपत्रिका' में राम तक पहुँच की असम्भाव्यता दिखाई गई है। निष्कर्ष यह है कि यहाँ भी साध्यरूपा शक्ति वही निजा शक्ति है और राधाभक्ति तो नवधा है ही। अथवा, गोस्वामीजी के शब्दों पर ध्यान दिया जाय, तो वह साधन-भक्ति नहीं, भक्ति का साधन है। गीता में श्रीकृष्ण का वचन है : **'भक्त्या मामभिजानाति।'**

भक्ति ही निजस्वरूप को अनुभवगोचर बना सकती है। यदि 'भक्ति' माध्यम-रूप में स्वीकृत होकर निजस्वरूप से भिन्न मानी जाय, तो निजस्वरूप परप्रकाश्य हो जायगा, जो अवांछित और अतर्कसम्मत है। रहा रामधारा का रसिकमार्ग, वहाँ तो रस-साधना में स्पष्ट ही सीता को राम की शक्ति कहा गया है और दोनों के रसमय रूप को साध्य माना गया है, वहाँ प्रेम का महोदधि उफनता रहता है।

इस प्रकार, तन्त्रों के सांस्कृतिक सन्दर्भ पर ध्यान केन्द्रित किया गया है, उसे सुस्पष्ट होते देर नहीं लगती कि मध्यकालीन संस्कृति का सर्वोच्च घटक जीवन-मूल्य शक्ति ही है। बौद्धों के यहाँ वह प्रज्ञापारमिता है और नाथों के यहाँ कुण्डलिनी। शेष सन्तों, सूफियों, रामोपासकों तथा कृष्णोपासकों में साक्षात् साध्यभूता 'भक्ति' ही है। निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन सांस्कृतिक सन्दर्भ को आगमिक साधना के ही आलोक में समझा जा सकता है।

••

[] **ई १, विश्वविद्यालय-आवास**
कोठी रोड, उज्जैन (म० प्र०)

समन्वयवादी दार्शनिक डॉ० गोपीनाथ कविराज

☐ श्रीराधेश्यामधर द्विवेदी

तत्त्वचिन्तक सन्त एवं मनीषी **डॉ० गोपीनाथ कविराज** विज्ञान के असामर्थ्य तथा धर्म के अन्धविश्वास को समझने तथा समझाने में समर्थ थे। क्योंकि, उन्होंने विज्ञान का चरम उत्कर्ष देखकर मानव-कल्याण का सरल पथ प्रशस्त किया था। वे ही एक ऐसे महामनीषी थे, जो मन्दिर के अन्धविश्वास को दूर करने की दृष्टि से युक्त थे तथा विज्ञान के खोखलेपन को समझने की शक्ति से सम्पन्न भी। वे महान् चिन्तक, साधक तथा योगी थे, जिनमें वर्त्तमान युग की सभी प्रवृत्तियाँ एकत्र मिलती हैं। वे सारी संकीर्ण दृष्टियों से परे थे—एक रास्ते के राही थे, जिससे चलना सिखाते थे तथा भूले-भटकों को सही रास्ते पर लाते थे। उनके पास पहुँचकर सम्प्रदाय, देश, प्रदेश, जाति तथा भाषा सब दूर हट जाते थे और मानव-जीवन की सार्थकता का उद्देश्य-मात्र साथ रहता था। उनकी दृष्टि से बेचारा मनुष्य भी शक्ति-सम्पन्न बन सकता है। वह बड़े-बड़े यानों में न चलकर अपने घर पर रहता हुआ भी सब कुछ समझ सकता है। इस परिप्रेक्ष्य में उनके शक्तिसम्पन्न विचार की ओर ध्यान देना उचित जान पड़ता है।

कविराजजी ने कहा : 'विज्ञान की आश्चर्यजनक प्रगति की चकाचौंध से चकित होने की जरूरत नहीं है—विज्ञान जिसकी सृष्टि कर रहा है, वह योगी की इच्छा से भी सम्पन्न हो सकता है, वे योगी की चितिशक्ति का स्वरूप बतलाते हुए अपने गुरु स्वामी **परमहंस विशुद्धानन्द** के सूर्यविज्ञान का उल्लेख करते थे तथा कहते थे : 'योगसृष्टि इच्छा-शक्ति से होती है। इस सृष्टि में पृथक् उपादान की आवश्यकता नहीं रहती। उपादान वस्तुतः स्रष्टा की अपनी आत्मा को ही जानना चाहिए, अर्थात् इच्छाशक्तिमूलक सृष्टि में उपादान और निमित्त दोनों अभिन्न रहते हैं। आत्मा, अर्थात् योगी स्वयं अपने स्वरूप से बाहर किसी उपादान की अपेक्षा न रखकर इच्छाशक्ति के प्रभाव से अन्दर स्थित अभिलषित पदार्थ को बाहर करते हैं। यह योगसृष्टि है। तान्त्रिक भाषा में, यही बिन्दु की विसर्गलीला है। अद्वैतभूमि में स्थित योगी इच्छाशक्ति के द्वारा सृष्टि किया करते हैं। 'शक्तिसूत्र' में कहा है : **स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।** इसीलिए, **उत्पलाचार्य** ने भी कहा है :

चिदात्मा तु हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

शंकराचार्य ने कहा है कि समग्र विश्व आत्मा के निज स्वरूप के अन्तर्भूत है। दर्पण में प्रतिबिम्बित रूप से दिखाई दे रही नगरी जैसे दर्पण के अन्तर्गत है, दर्पण से

पृथक् नहीं, वैसे ही प्रकाशमान आत्मा में प्रतिभासमान पृथक् दृश्य आत्मा के अन्तर्गत है। आत्मा से पृथक् नहीं।[१]

कविराजजी ने प्रत्येक वस्तु में अन्य वस्तु के सत्त्वांश को मानकर प्रत्येक वस्तु से अन्य वस्तु के पैदा होने की यौगिक क्रिया का वर्णन भी किया है : "इस प्रकार, विचार-पूर्वक देख सकने पर समझ में आ जायगा कि प्रत्येक वस्तु की पृष्ठभूमि में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप से मूल प्रकृति रहती है। आवरण के तारतम्य के अनुसार, विभिन्न प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती रहती है। योगी इस सत्य का आश्रय करके ही अभ्यास-योग में प्रवृत्त होता है; क्योंकि मानव की निज सत्ता में भी सूक्ष्म रूप से पूर्ण भगवत्सत्ता अथवा दिव्यसत्ता विद्यमान रहती है, उसको अभिव्यक्त कर प्रकाश में लाना ही अभ्यास-योग का उद्देश्य है, अच्छी-बुरी सब सत्ताएँ सभी में रहती हैं, जो जिसे अभिव्यक्त कर सके, वही उसके निकट अभिव्यक्त होती हैं। इस सन्दर्भ में योगसूत्रकार **पतंजलि** ने भी कहा है : **'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'**, अर्थात् प्रकृति अथवा उपादान का आपूरण होने से एक जाति की वस्तु अन्य जाति की वस्तु में परिणत हो जाती है।"[२]

माननीय कविराजजी ने इस सिद्धान्त का परीक्षण अपने गुरु के द्वारा अपने शंकालु मित्र, क्वींस कॉलेज के भौतिकी के प्रधान अध्यापक **श्रीअभयचरण सान्याल** की उपस्थिति में कराया था। अभय बाबू ने कहा : 'बाबाजी जो कह रहे हैं, उसे मैं विज्ञानविरुद्ध होने के कारण स्वीकार नहीं कर सकता। अपने सन्तोष के लिए मैं उसका स्वयं प्रत्यक्ष करने की इच्छा करता हूँ और उसके पहले मैं स्वामीजी से अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे यदि अपने इच्छानुसार वस्तु की सृष्टि न कर मेरे निर्देश के अनुसार वस्तु की सृष्टि करके दिखा सकें, तो मैं इस सृष्टि-व्यापार को प्रामाणिक मान सकता हूँ। यदि यह बात स्वीकार कर लें, तो मैं एक वस्तु का नाम ले सकता हूँ।' उन्होंने आगे और भी कहा : 'दिखाते समय कोई अवान्तर वस्तु उनके निकट न रहे और वे अपने दोनों हाथ धोकर बैठें।' बाबा उसी में सम्मत हुए और उन्होंने कहा : 'बाबा, तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही होगा। जिससे तुम्हें आश्वस्ति हो एवं संशय न रहे, वही करना उचित है। कहो, तुम किस वस्तु की रचना चाहते हो?'

अभय बाबू ने सूर्यविज्ञान के आधार पर ग्रेनाइड का टुकड़ा बनाने के लिए जब कहा, तब बाबाजी ने एक लेंस निकाला तथा उसके आधार पर सूर्य-रश्मियों से रूई में उस ग्रेनाइड को उतार दिया तथा अपूर्व सुन्दर लालरंग का ग्रेनाइड स्टोन देते हुए बाबा ने अभय बाबू से कहा : 'देखो, हुआ या नहीं?'

अभय बाबू अब क्या करें। उन्होंने कहा : 'देख रहा हूँ, अति आश्चर्यमय व्यापार है। मैं इसे ले जा सकता हूँ क्या? मेरी इच्छा है कि इसे मैं अन्यान्य लोगों को दिखाऊँ। सभी इसे देख सकेंगे न?' बाबा ने कहा : 'निश्चय ही देख सकेंगे। तुम निःसंकोच इसे ले जा सकते हो।'

---

१. **सूर्यविज्ञान, भारतीय संस्कृति और साधना (भाग २), पृ० १६१।**

२. **उपरिवत्, पृ० १६४।**

अभय बाबू ने पत्थर ले लिया। तब उनसे कविराजजी ने कहा : 'अब तो आप सूर्यविज्ञान को स्वीकार करेंगे? प्रत्यक्ष से बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं है। अभय बाबू ने कहा : 'प्रत्यक्ष कर रहा हूँ, यह सत्य है। यह ग्रेनाइड-स्टोन है, यह भी सत्य है; किन्तु सूर्य के आलोक से किस प्रकार यह प्रस्तुत हो सकता है, यह नहीं समझ पा रहा हूँ। विज्ञान के मतानुसार सूर्य से यह सम्भव नहीं है। बाबाजी ने सम्भवतः योगबल से यह रचना की है। मैं इसे विज्ञान की सृष्टि नहीं मान सकता।'

बाबा ने कहा : 'तुम क्या योगबल या इच्छाशक्ति का तत्त्व कुछ जानते हो? जो इच्छा-शक्ति नहीं जानता, उसके लिए ज्ञानी कर्मी का वाक्य बिना ननु-नच किये स्वीकार कर लेना कर्त्तव्य है। अभय बाबू ने सिर झुकाकर उसे स्वीकार किया। अन्त में उन्होंने कहा : 'हुआ है सही, किन्तु किस प्रकार हुआ है, यह कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ सका।' उन्होंने बाबा को प्रणाम कर पत्थर लेकर प्रस्थान किया।[१]

सम्भवतः, यह घटना कविराजजी की भावभरी लेखनी से निःसृत होने के कारण कुछ विचारकों को कपोलकल्पित लगे, पर 'ब्लिट्ज' के आस्थाविहीन सम्पादक **आर्० के० करंजिया** की कलम से साईं बाबा के सन्दर्भ में भी ऐसी ही घटना का उल्लेख हुआ है, जिसे हम सभी ने पढ़ा और देखा है।

संकल्पशक्ति के द्वारा वस्तु-उत्पादन का एक नमूना-रूप अंगूठी करंजिया को साईं बाबा ने दी थी, जो 'ओम्' शब्द से युक्त तथा साईं बाबा की आकृति से विभूषित थी, इसका भी चित्रण 'ब्लिट्ज' में किया गया था।[२]

इस घटना को आज इसलिए, मैं दुहरा रहा हूँ; क्योंकि कविराजजी से तन्त्र-सम्मेलन के अवसर पर किसी को यौगिक चमत्कार दिखलाने के लिए बुलाने को कहा गया, तो उन्होंने साईं बाबा के बारे में यह शब्द मेरे सम्मुख ही कहा था : 'साईं बाबा भगवान् के विग्रह को संकल्पशक्ति से खुद पैदा करके उसकी पूजा करते हैं, वे ही प्रत्यक्ष चमत्कार दिखा सकते हैं। यदि उनको बुलाया जाय, तो चमत्कार सम्भव है।'

आज के युग में भी कविराजजी बनावटी समन्वय के विरोधी थे, वे सहज बुद्धि के आधार पर सभी धर्मों, सम्प्रदायों का आदर करते थे। वे चाहते थे कि व्यक्ति अपनी परिस्थिति में रहकर ही मानव-हित का सम्पादन करे। किन्तु, वे इस बात के विरोधी थे कि समाजहित के सम्पादन में अपने 'स्व' का लोप कर दिया जाय। जो एक दूसरे में मिलकर विश्वामित्र की सृष्टि-सी बन जाय, जिसे न तो स्वर्ग में ही जगह मिले, न इहलोक में ही। वे विरोधी विचारों के विरोध का परिहार अपनी सूक्ष्म बुद्धि से किया करते थे। उन्होंने बौद्ध अनात्मवाद तथा वैदिक आत्मवाद का अद्भुत समन्वय स्थापित करते हुए कहा था : 'बुद्ध के अनात्मवाद तथा उपनिषदों के आत्मवाद का रहस्य एक है।

---

१. श्रीगुरुचरणों का प्रथम दर्शन, भारतीय संस्कृति और साधना (भाग २), पृ० ३०।

२. द्र० ब्लिट्ज, २५ सितम्बर, १९७६ ई०।

अनात्मवादी अनहंवादी बनकर सबसे समत्व-दृष्टि स्थापित करता है, जबकि आत्मवादी सबमें आत्मभाव लाकर समत्व स्थापित करता है। लक्ष्य दोनों का एक है, साधन भिन्न-भिन्न हैं। भेद अज्ञान का फल है, अभेद ज्ञान का।'[१]

इसी प्रकार, मुसलमान फकीर तथा सनातनी महात्मा में भी कविराजजी की समान दृष्टि थी। वे कहते हैं : 'मैं तिब्बत का नाम सुनकर महात्मा के दर्शनों के लिए उत्कण्ठित हुआ। अलौकिक रूप से गन्धसृष्टि करना मैं अन्यत्र एक बार देख चुका था। एक मुसलमान फकीर को इसी काशी में ही कुछ दिन पहले ड्रेन की दुर्गन्धमय काली मिट्टी को हाथ की मुट्ठी में लेकर स्थायी सुगन्ध से युक्त करते हुए मैंने देखा था।'[२] इसलिए ही, वे महायोगी विशुद्धानन्द से मिलने के लिए हनुमानघाट के उस आश्रम में गये, जहाँ वे रहते थे तथा उनसे मिलने के बाद ही उनका स्वरूप बदल सका। उन्होंने स्वामी विशुद्धानन्द से अभिषेक-ग्रहण किया तथा वे भारतवर्ष में लुप्त हो रहे तान्त्रिक शाक्त-सम्प्रदाय और वाङ्मय को पुनरुज्जीवित करने के लिए कृतसंकल्प हुए। उनके ही सत्संकल्प से आज हम तान्त्रिक वाङ्मय से परिचित हो रहे हैं। उन्होंने आशा-भरी दृष्टि से तान्त्रिक वाङ्मय के उद्धार की कल्पना करते हुए लिखा है :

'उदाहरण के रूप में शाक्तदृष्टि की बात कही जा सकती है। 'षड्दर्शनसमुच्चय' आदि ग्रन्थों में, यहाँतक कि 'सर्वदर्शनसंग्रह' के सदृश बृहत् तथा प्रामाणिक ग्रन्थ में भी इस प्रकार की उपेक्षा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उस समय शाक्तदृष्टि-प्रतिपादक ग्रन्थ या साधना-परम्परा भी नहीं थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस समय प्राचीन शाक्तसाहित्य का अधिकांश लुप्त हो जाने पर भी विशाल साहित्य विद्यमान था। परन्तु, उसके सम्यक् प्रचार तथा पठन-पाठन का सौकर्य न रहने के कारण शाक्त-शक्ति से विद्वत्समाज में भी अधिकांश लोगों का घनिष्ठ परिचय नहीं था।'[३]

इस प्रकार, कविराजजी ने वर्त्तमान समाज को आध्यात्मिक तान्त्रिक वाङ्मय का परिचय देकर उसके भविष्य को मंगलमय करने में महान् योगदान किया है। यह मार्ग इतना सरल तथा गुह्य है कि इसका आश्रय करने पर साधक इसी जन्म में अपना उद्देश्यपूर्ण जीवन प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।

••

□ द्वारा : पालि-विभागाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी (उ० प्र०)

---

१. द्र० दै० 'आज', २७ जून, १९७६ ई० का विशेषांक : 'बौद्ध एवं वैदिक दर्शनों का सेतु : कविराजजी'।
२. भारतीय संस्कृति और साधना (भाग २), पृ० १२०।
३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, प्रस्तावना, पृ० १।

जीवन्मुक्त की जीवनरेखा*

☐ प्रस्तुति : पं० श्रीकृष्ण पन्त

जन्म तथा वंश-परिचय :

महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगोपीनाथ कविराजजी का जन्म पूर्ववंग, (अब बँगलादेश) के अन्तर्गत ढाका जिले के सुप्रसिद्ध 'धामराई' ग्राम में भाद्रपद २२ सौर, बुधवार १९४४ वि० (७ सितम्बर १८८७ ई०) को हुआ था। यह आपके मातामह का ग्राम है। आपके पूर्वपुरुषों का निवासस्थान मैमनसिंह जिलान्तर्गत 'दान्या' गाँव है। आपके पिता पं० श्रीवैकुण्ठनाथ कविराज, बाल्यकाल में ही माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण, अपने मातुलग्राम 'काँटालिया' (जिला मैमनसिंह) में मातुल द्वारा पाले-पोसे गये थे। उन्होंने ही उन्हें पढ़ाया और विवाह आदि भी कराये। कविराजजी की पूज्या माता श्रीश्री सुखदासुन्दरी स्व० हरिश्चन्द्र राय मौलिक की छोटी कन्या थीं। पं० श्रीवैकुण्ठनाथ कविराज के जन्म के बाद ही उनकी माता का देहावसान हो गया था। उनके एक बड़ी बहन और दो बड़े भाई थे।

कविराजजी के पिता पं० श्रीवैकुण्ठनाथ कविराज बड़े अच्छे स्कॉलर थे। वे बी० ए० में, संस्कृत में ऑनर्स के साथ प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए थे। एम्० ए० उत्तीर्ण होने के पहले, अल्प वय में ही, उनका देहान्त हो गया। श्रीकविराजजी अपने माता-पिता के एकमात्र सन्तान थे।

अध्ययन :

कविराजजी की प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिताजी के ननिहाल 'काँटालिया' में हुई। तत्पश्चात् 'धामराई' में इंगलिश स्कूल में प्रविष्ट हुए। उसके पश्चात् किशोरीलाल जुबिली स्कूल, ढाका में प्रविष्ट हुए। वहीं से सन् १९०५ ई० में आपने इण्ट्रेंस परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। इण्ट्रेंस पास होने के बाद आप लगभग एक वर्ष मलेरिया ज्वर से पीडित रहे। वायु-परिवर्त्तन के लिए स्थानान्तर में भी गये। सन् १९०६ ई० में मलेरिया से सर्वथा शुद्ध स्थान को खोजते हुए आप जयपुर (राजस्थान) पहुँचे। वहाँ महाराजा जयपुर कॉलेज में इण्टरमीडिएट कक्षा में प्रविष्ट हुए, साथ ही वहाँ के प्रधानमन्त्री संसारचन्द्रसेनजी के पौत्रों के गार्जियन-ट्यूटर नियुक्त किये गये। दो वर्ष बाद, सन् १९०८ ई० में इण्टर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। वहीं से सन् १९१० ई० में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। चार वर्ष जयपुर में रहने के पश्चात् स्वदेश लौट आये।

आपको डॉ० आर्थर वेनिस की विद्वत्ता का परिचय पहले से था। आपने उनका 'वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली' तथा 'वेदान्तपरिभाषा' का इंगलिश-अनुवाद पढ़ा था।

---

*'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' से यथासम्पादित रूप में उद्धृत।—सं०

उनके लिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, वर्णविज्ञान, इतिहास आदि विषयों के प्रौढ वैदुष्य की चर्चा भी आपके कानों तक पहुँच चुकी थी। इसलिए, काशी आकर उनके अधीन अध्ययन करने की आपको बड़ी उत्कट इच्छा हुई। आपके पिताजी के कतिपय मित्रों के, कलकत्ता में अध्ययन करने की सलाह देने पर भी आप काशी आये और क्वींस कॉलेज में, जहाँ डॉ० वेनिस साहब प्रिंसिपल थे, एम्० ए० पंचम वर्ष में प्रविष्ट हुए। सन् १९११ ई० में पंचम वर्ष की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् आप एम्० ए० षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट हुए। परन्तु, बीमार पड़ गये। चिकित्सा तथा वायु-परिवर्त्तन के लिए आपको कलकत्ता तथा पुरी जाना पड़ा। वहाँ से लौटकर वायु-परिवर्त्तन के लिए ही हरिद्वार की ओर मंसूरी आदि स्वास्थ्य-वर्द्धक स्थानों में भी कुछ दिन रहे। शरीर स्वस्थ हो जाने पर पुनः षष्ठ वर्ष में प्रविष्ट होकर अध्ययन में दत्तचित्त हुए। एम्० ए० में आपने लिपिविज्ञान, मुद्राशास्त्र, वर्णविज्ञान आदि विषय लिये थे। इन विषयों को आप डॉ० वेनिस साहब से पढ़ते थे। प्रो० नॉर्मन साहब के निकट प्राकृत और पालि-साहित्य तथा व्याकरण का अध्ययन करते थे। जर्मन और फ्रेंच भाषा भी आपने प्रो० नॉर्मन साहब से ही पढ़ी थी। पालि-अध्ययनकाल में म० म० लक्ष्मण शास्त्री तैलंग, जो क्वींस कॉलेज के अध्यापक थे, कविराजजी के सहाध्यायी हुए। एम्० ए० षष्ठ वर्ष में आपके सहाध्यायी थे आचार्य नरेन्द्रदेव तथा एच्० आर० दिवेकर। आपने न्याय और वेदान्त का अध्ययन महामहोपाध्याय पं० बामाचरण भट्टाचार्यजी से किया था।

सन् १९१३ ई० में आप एम्० ए० परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम उत्तीर्ण हुए। आपके मौखिक परीक्षकों ने, जो विभिन्न प्रान्तों के बहुविश्रुत विद्वान् थे, आपके पाण्डित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। इसके अनन्तर एक वर्ष पोस्ट ग्रेजुएट के रूप में आप गवेषणा करते रहे। इस काल में आपने अशोक की शिलालिपि, गुप्तलिपि आदि विषयों में विशेष योग्यता उपार्जित की।

सेवा :

'सरस्वती-भवन' नामक विशाल गवेषणाप्रधान पुस्तकालय की स्थापना होने के पश्चात् अप्रैल, १९१४ ई० में वेनिस साहब की इच्छा के अनुसार, आप उक्त पुस्तकालय के प्रधान अध्यक्ष नियुक्त किये गये। उसी समय डॉ० वेनिस के इलाहाबाद-युनिवर्सिटी में पोस्ट वैदिक स्टडीज के अध्यापक नियुक्त होने पर आप उनके अधीन उक्त विषय के रीडर नियुक्त हुए। आपका कार्य था 'सरस्वती-भवन' में ही बैठकर क्वींस कॉलेज के एम्० ए० (संस्कृत) कक्षा के छात्रों को पढ़ाना एवं उनको गवेषणा-कार्य में सहायता पहुँचाना। रीडर का कार्य करते समय बहुत छात्र बाहर के कई स्थानों से वृत्ति प्राप्त कर आपके तथा डॉ० वेनिस साहब के निकट अध्ययन करने के लिए आये। उसी समय के आसपास डॉ० वेनिस साहब के प्रयत्न से उत्तरप्रदेश की 'हिस्टोरिकल सोसाइटी' की स्थापना हुई। उससे जो जर्नल निकलता था, सुना है, प्रारम्भावस्था में उसके लिए आप नियमतः लेख लिखते थे।

इधर डॉ० वेनिस साहब तथा कविराजजी दोनों ने मिलकर उत्तरप्रदेश गवर्नमेण्ट के अधीन 'सरस्वती-भवन टैक्स्ट्स' तथा 'सरस्वती-भवन स्टडीज़' नाम से दो सीरिजों (ग्रन्थमालाओं) का प्रकाशन करना आरम्भ कर दिया। उनके प्रकाशन का उद्देश्य था—सरस्वतीभवन-लाइब्रेरी में जो उत्तम ग्रन्थ प्रकाशन के अभाव से पण्डितों की दृष्टि के अगोचर पड़े हुए थे, उन्हें प्रकाशित करना, ताकि ग्रन्थ लुप्त न हो जायँ तथा 'सरस्वती-भवन' में जो गवेषणा का कार्य होता था, उसके आधार पर लेखों को प्रकाशित करना।

प्रकाशन का काम आरम्भ करते ही वेनिस साहब का देहावसान हो गया। यह सन् १९१८ ई० की बात है। इसके बाद डॉ० गंगानाथ झा गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज के अध्यक्ष होकर आये। गंगानाथ झा भी डॉ० वेनिस के तुल्य ही श्रीकविराजजी पर बहुत अधिक श्रद्धा रखते थे और आपके निर्देश के अनुसार ही प्रकाशन-कार्य करते थे। डॉ० झा भी डॉ० वेनिस के ही अतिप्राचीन छात्र थे।

डॉ० झा तथा कविराजजी दोनों के सहयोग से कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। सन् १९२४ ई० में डॉ० झा इलाहाबाद-युनिवर्सिटी के वाइस चांसलर होकर चले गये। उनके रिक्त स्थान पर पं० कविराजजी गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज के अध्यक्ष नियुक्त किये गये। अध्यक्ष को ही 'रजिस्ट्रार, गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज परीक्षाएँ' का काम भी सँभालना पड़ता था। प्रायः अध्यक्ष ही 'सुपरिण्टेण्डेण्ट ऑव संस्कृत स्टडीज़' भी होता था। इन सब पदों का कार्य श्रीकविराजजी बड़ी योग्यता के साथ निष्ठापूर्वक चलाते रहे।

अवकाश-ग्रहण :

'बेरीबेरी' रोग से अस्वस्थ होने के कारण आपने ३-४ वर्ष पूर्व ही सन् १९३७ ई० में अवकाश ग्रहण कर लिया। अवकाश ग्रहण करने के बाद आपने बाहरी कोई कार्य सँभालना स्वीकार नहीं किया। कई ऊँचे अधिकारियों ने ऊँचे-ऊँचे पदों पर अध्यासीन होने के लिए आपसे बहुत अनुनय-विनय किया, परन्तु आपकी निःस्पृहता के समक्ष उनका अनुनय-विनय व्यर्थ गया। आप अपने घर पर ही अध्यात्मज्ञान-चर्चा करते हुए भारतीय संस्कृति और विद्या का निरन्तर प्रसार करते रहे।

दीक्षागुरु :

श्रीकविराजजी को आध्यात्मिक, अर्थात् योगमार्ग में पहले शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द नामक महापुरुष से साहाय्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने 'आर्यशास्त्रप्रदीप', 'परलोकतत्त्व' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। वे विशिष्ट विद्वान् तथा योगी थे। किन्तु, श्रीकविराजजी की यथार्थ दीक्षा हुई श्रीश्री विशुद्धानन्द परमहंस देवजी से। वे महान् योगी थे एवं लुप्त प्राचीन लुप्त प्राचीन विज्ञान के अद्वितीय समर्थ अधिकारी पुरुष थे। सूर्यरश्मि, चन्द्ररश्मि, वायु और शब्द का अवलम्बन कर सब प्रकार की स्थूल वस्तुओं का निर्माण करने का रहस्य उन्हें ज्ञात था। योगमार्ग में भी आकाशगमन आदि तथा अष्टसिद्धि प्रभृति, यहाँतक कि इच्छाशक्ति भी उनके आयत्त थी। उनका वैशिष्ट्य यह था कि वे

शास्त्रोक्त सृष्टि आदि के गुप्त रहस्य का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कर उसे समझा देते थे। उन्होंने तिब्बत के अन्तर्गत गुप्त सिद्धस्थान ज्ञानगंज में दीर्घकाल तक रहकर कठोर तपस्यापूर्वक सब विद्याएँ प्राप्त की थीं। उनके शरीर से निरन्तर दिव्य गन्ध का निर्गम होता था, इसलिए साधारण लोग उन्हें 'गन्धबाबा' भी कहते थे। उनका तिरोधान सन् १९३७ ई० में हुआ था।

श्रीश्री विशुद्धानन्द परमहंस देव के अनन्तर श्रीकविराजजी को सबसे अधिक साहाय्य मिला है परमपूज्या श्रीश्री आनन्दमयी माता, सिद्धिमाता तथा रामठाकुरजी से। अन्यान्य शक्तिसम्पन्न महापुरुषों से भी श्रीकविराजजी का सम्बन्ध हुआ, जिनका परिचय आपने स्वरचित 'साधुदर्शन तथा सत्प्रसंग' में दिया है।

राजकीय सम्मान :

सन् १९३४ ई० में गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया ने आपकी असाधारण विद्वत्ता से प्रभावित होकर आपको 'महामहोपाध्याय' पदवी प्रदान की। इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण है उस समय कई विद्वानों ने कहा था कि इस पदवी से कविराजजी विभूषित नहीं हुए, बल्कि यह पदवी कविराजजी से विभूषित हुई है।

इलाहाबाद-युनिवर्सिटी ने भी सन् १९५५ ई० में ऑनरेरी डॉक्टरेट (डी० लिट्०) उपाधि से आपको सम्मानित किया तथा बनारस हिन्दू-युनिवर्सिटी ने भी सन् १९५५ ई० में ऑनरेरी डी० लिट्० उपाधि प्रदान की। भारत के राष्ट्रपति ने सन् १९५९ ई० में आपको 'सर्टिफिकेट ऑव ऑनर' से सत्कृत किया और फिर आगे चलकर 'पद्मविभूषण' की उपाधि से भी विभूषित किया। सन् १९६० ई० में आप वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालय (अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय) में सम्मानित अध्यापक नियुक्त किये गये। इसके अतिरिक्त, गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज, कलकत्ता ने आपको अपना संस्कृत-सेमिनार का 'ऑनरेरी फेलो' नियुक्त किया था।

ग्रन्थसम्पादन, ग्रन्थरचना :

पूर्ववर्णित जो दो ग्रन्थमालाएँ सरस्वती-भवन में स्थापित हुई थीं, उनमें सरस्वती-भवन स्टडीज के १० खण्डों का श्रीकविराजजी ने सम्पादन किया। स्टडीज में अधिकांश लेख आपके ही रहते थे। उनमें से कतिपय लेखों का यहाँ उल्लेख किया जाता है: १. 'न्याय-वैशेषिक साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन'; २. 'ईश्वरवाद'; ३. 'सांख्यदृष्टि से कारणतत्त्व'; ४. 'गोरखनाथ के सिद्धान्तों पर अभिनव विचार'; ५. 'वीरशैव-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार'; ६. 'पाशुपतदर्शन'; ७. 'तान्त्रिकदर्शन पर विचार' आदि-आदि। 'सरस्वती-भवन टैक्स्ट्स' में आपने न्यायवैशेषिक में—किरणावलीभास्कर, रससार प्रभृति, भक्तिशास्त्र में—भक्तिचन्द्रिका (नारायणतीर्थकृत), गौडीय सिद्धान्त में—सिद्धान्तरत्न, आगम में—त्रिपुरारहस्य-ज्ञानखण्ड, योगिनीहृदयदीपिका आदि ग्रन्थों का स्वयं सम्पादन किया।

इनके अतिरिक्त, बँगला में लिखे आपके ग्रन्थ हैं : १. अखण्ड महायोग; २. श्रीश्री विशुद्धानन्द-प्रसंग (५ खण्डों में श्रीश्री गुरुदेव विशुद्धानन्द परमहंस-चरित); ३. विशुद्धवाणी (७ भागों में); ४. साधुदर्शन ओ सत्प्रसंग (२ खण्डों में); ५. तन्त्र ओ आगमशास्त्रेर दिग्दर्शन; ६. तान्त्रिक साधना ओ सिद्धान्त (२ खण्डों में)।

हिन्दी में 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि', 'तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन' तथा 'भारतीय संस्कृति और साधना' (दो खण्डों में) बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित हैं। सम्प्रति, परिषद् द्वारा 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ (दोनों खण्ड एक जिल्द में) प्रकाशित हो रहा है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से ही 'परिषद्-पत्रिका' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित 'काशी की सारस्वत साधना' परिषद् द्वारा स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित है। उत्तरप्रदेश हिन्दी-समिति की ओर से 'तान्त्रिक साहित्य' भी प्रकाशित हो गया है।

अँगरेजी में :

१. Ministry of Education, Govt. of India से प्रकाशित History of Philosophy Eastern and Western का Shakta Philosophy Section.

२. Bibliography of Nyaya Vaisheshika literature.

जिन विशिष्ट पुस्तकों की आपने विस्तारपूर्वक **भूमिका** लिखी, उनमें कतिपय नाम इस प्रकार हैं :

१. डॉ० गंगानाथ झा-कृत 'न्यायभाष्य' के अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका।
२. डॉ० गंगानाथ झा-कृत 'तन्त्रवार्त्तिक' के अँगरेजी-अनुवाद की भूमिका।
३. श्रीशंकराचार्य-कृत 'सांख्यकारिका' की टीका 'जयमंगला' की भूमिका।
४. श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल-कृत 'गीता-व्याख्या' की भूमिका।
५. अच्युतग्रन्थमाला से प्रकाशित सानुवाद शांकरभाष्य 'रत्नप्रभाटीका-सहित' 'ब्रह्मसूत्र' की भूमिका।
६. म० म० हाराणचन्द्र भट्टाचार्य-कृत 'कालसिद्धान्तदर्शिनी' की भूमिका।
७. म० म० पंचाननतर्करत्न-कृत 'ब्रह्मसूत्रशक्तिभाष्य' की भूमिका।
८. पं० बलदेव उपाध्याय-कृत 'बौद्धदर्शन' की भूमिका।
९. श्रीबलदेव उपाध्याय-कृत 'भारतीयदर्शन' की भूमिका।
१०. श्रीवाणेश्वर विद्यालंकार-कृत 'चित्रचम्पू' की भूमिका।
११. स्वा० प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती-कृत 'जपसूत्र' की भूमिका।
१२. श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय-कृत Philosophy of Goraksha Nath की भूमिका।
१३. श्रीसुरेन्द्रनाथ सेन-कृत 'गुरुतत्त्व' की भूमिका।
१४. श्रीजगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय-कृत Vedic View of man and the Universe की भूमिका।
१५. डॉ० नथमल टाटिया-कृत Studies in Jain Philosophy की भूमिका।

१६. श्रीगुरुप्रियादेवी-कृत 'अखण्ड महायज्ञ' की भूमिका ।
१७. श्रीगुरुप्रियादेवी-कृत 'श्रीश्री माँ आनन्दमयी' की भूमिका ।
१८. श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी-कृत 'ज्ञानेश्वरी'-वंगानुवाद की भूमिका ।
१९. श्रीराजबालादेवी-कृत 'श्रीश्री सिद्धिमाता' की भूमिका ।
२०. आचार्य नरेन्द्रदेव-कृत 'बौद्धधर्म-दर्शन' की भूमिका ।
२१. श्रीभगवतीप्रसाद सिंह-कृत 'रामभक्ति में रसिक-सम्प्रदाय' की भूमिका ।
२२. श्रीसीतारामदास ओंकारनाथ-कृत 'नादलीलामृत' की भूमिका ।
२३. श्रीइन्दिरा देवी दिलीप राय-कृत 'सुधांजलि' की भूमिका ।
२४. महात्मा पालधि-कृत 'सद्गुरुवाणी' की भूमिका ।
२५. श्रीसर्वानन्द-कृत 'सर्वोल्लासतन्त्र' की भूमिका ।
२६. डॉ० उमेश मिश्र-कृत Conception of Matter की भूमिका ।
२७. श्रीतारामोहनशास्त्री-कृत 'अगस्त्यचरित' की भूमिका ।
२८. डॉ० गोविन्दगोपाल मुखर्जी-कृत Studies in the Upanishad की भूमिका ।
२९. Mother as seen by her devotees की भूमिका ।

विभिन्न अभिनन्दन-ग्रन्थों में भी आपके लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं :

धर्मेन्द्र अभिनन्दन-ग्रन्थ, महावीर संवर्द्धन-ग्रन्थ, महादेव शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ, Vidyapith Silver Jublee Commemoration Volume आदि-आदि ।

हिन्दी, अँगरेजी, बँगला तथा संस्कृत में आपके सैकड़ों लेख प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से 'कल्याण', 'त्रिपथगा', 'सम्मेलन-पत्रिका', 'परिषद्-पत्रिका', 'नागरीप्रचारिणी-पत्रिका', 'राष्ट्रधर्म', 'मानवधर्म', 'मानव', 'विन्ध्यभूमि', 'विद्यापीठ-पत्रिका', 'आनन्दवार्त्ता', 'गीताधर्म', 'विदेह', 'आज' आदि में हिन्दी के; Journal of the U. P. Historical Society, India—Past and Present, Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Modern Review, Hindustan Review, Journal of the Ganga Nath Jha Research Institute, Kalyan Kalpataru आदि में अँगरेजी के; 'हिमाद्रि', 'उद्बोधन', 'भारतवर्ष', 'प्रवासी', 'प्रवासज्योति', 'उत्तरा', 'अलका' 'देवयान', 'वंगसाहित्य', 'सुदर्शन', 'विश्ववाणी', 'उत्सव', 'पन्था', 'आनन्दवार्त्ता', 'आर्यदर्पण', 'प्रतिभा', 'बान्धव' आदि में बँगला के तथा 'सारस्वती सुषमा', 'संस्कृतरत्नाकर', 'सूर्योदय', 'सागरिका' आदि में संस्कृत के लेख प्रकाशित हुए हैं ।

उत्तर भारत के विश्वविद्यालयों के पी-एच्० डी० तथा डी-लिट्० के लिए गवेषणा कर रहे छात्रों को गवेषणा-कार्य में सहायता प्रदान करना तथा अध्यात्ममार्ग के जिज्ञासुओं की जिज्ञासा-शान्ति के लिए ज्ञानचर्चा करना और आध्यात्मिक विषयों का अध्यापन करना आपका मुख्य कार्य था । लौकिक व्यवहार के सम्बन्ध में आप चर्चा तक नहीं करते थे ।

सदा विजयतां कविराजराजः

●

मूलं धर्मतरोः फलं श्रुतवतां पुण्यस्य गेहः श्रिया-
माधारः सुगुणोत्करस्य जनिभूस्सत्यस्य धामौजसः ।
धैर्यस्यापि परोऽवधिः प्रतिनिधिः कल्पद्रुमस्याद्भुतो
गोपीनाथसुयोगिराट् विजयतां जीवन्सहस्रं समा : ॥

मन्दारो विदुषां श्रुतिस्मृतिजुषां सर्वातिशायी गुणै-
र्विश्वाज्ञानहृतां यशोद्युतिभृतां सम्मानिनामग्रणीः ।
सर्वं सम्परिहृत्य लग्नहृदयो योगे च तन्त्रे सदा
गोपीनाथसुनामगीतमहिमा क्षेमाय नः कल्पताम् ॥

यस्य प्रसादलवतोऽप्यनुसन्दधाना धन्या भवन्ति कृतिनोऽनुदिनं बुधेन्द्राः ।
तत्त्वप्रबोधदिनकृन्महितस्स **गोपीनाथ**स्सदा विजयतां कविराजराजः ॥
सूत्रेषु संग्रथितभास्वररत्नहारं कण्ठे विभूष्य सुधियां हृदयं हरन्यः ।
लोकोत्तरच्छविमुपैति स पूज्य**गोपीनाथ**स्सदा विजयतां कविराजराजः ॥

किं ते गुणानखिललोकविभासमानान्
संवर्णयाम इह तान्कविराजराज ।
कः स्यात्क्षमो गणयितुं जलवृष्टिबिन्दून्
तारागणानथ च धूलिकणान्समग्रान् ॥

☐ पं० रामकुबेर मालवीय

☐ **गोपीनाथ कविराज-**
अभिनन्दन-ग्रन्थ से साभार

●

मेरी साधना के प्रेरक : कविराजजी

☐ स्वामी अजितानन्द सरस्वती

सन् १९६१ ई० का ३१ दिसम्बर और १ जनवरी—ये दोनों दिन मेरे लिए अनमोल और अविस्मरणीय हैं। तन्त्र-साहित्य के भारतप्रसिद्ध विद्वान् और महान् साधक कौलाचार्य **महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज** के दर्शन की अभिलाषा बहुत दिनों से थी। कविराजजी के एक शिष्य का पत्र लेकर मैं उनसे मिलने वाराणसी के सिगरा-स्थित आवास पर गया। दिन के लगभग दो बजे होंगे। देखा, कविराजजी गद्दी पर मसनद के सहारे अधलेटी अवस्था में बैठे थे। उनके चारों ओर रैक में मोटी-मोटी कॉपियाँ रखी थीं और कुछ किताबें भी थीं। कोई व्यक्ति उनके निकट सहसा पहुँचकर आसानी से उनका चरणस्पर्श नहीं कर सकता था। रैक के इस पार जो स्थान था, वहाँ कुर्सियों और बेंचों पर मुश्किल से आठ-दस आदमी बैठ सकते थे।

जैसा सुन रखा था, उनके भाल पर अद्‌भुत तेज विराजमान था। प्रशस्त ललाट, आँखें बड़ी-बड़ी और किसी के अन्तस्तल में पैठ जानेवाली उनकी गहरी दृष्टि उनके व्यक्तित्व को मोहक बना देती थी। लम्बा कद, प्रशस्त गोरा शरीर, जिसे 'सुन्दर' की संज्ञा दिये बिना कोई नहीं रह सकता था।

जिस समय मैं पहुँचा, उसी समय दो और सज्जन पहुँचे और धरती पर माथा टेक चुपचाप बैठ गये। उस समय 'ईश्वर और उसकी माया' पर उनका प्रवचन चल रहा था। चार पाँच विद्वान् पहले से भी जुटे थे। कविराजजी लगभग साढ़े चार बजे तक अनवरत बोलते रहे। उनके प्रवचन से मुझे इतना अवश्य लाभ हुआ कि मेरे मन में जो कई समस्याएँ थीं, उनका समाधान अपने-आप हो गया।

जब सभी लोग उनके प्रवचन के बाद चले गये, तब मैंने उन्हें पत्र दिया। पत्र पढ़कर वे चुप हो गये। मेरी ओर ऊपर से नीचे तक उन्होंने एक बार देखा। कहा : 'आपकी जिज्ञासा को मैं समझ गया। कितने दिनों से साधना कर रहे हैं?' मैंने कहा : 'सरकार! सन् १९३८ ई० से माँ की सेवा में जुटा हूँ, लगभग दो युग बीत गये।' उन्होंने साश्चर्य दृष्टि से मेरी ओर देखा। पूछा : 'कुछ विशेष अनुभूति नहीं हुई?' मैंने उत्तर दिया : "सरकार! एक बार शिवजी को ताण्डव नृत्य करते स्वप्न में देखा था। नीम के नीचे एक साधारण मन्दिर था, वहीं पर उतरे थे। शिवजी ने मेरे सिर पर हाथ दिया और कहीं विलुप्त हो

गये। नींद टूट गई। वैसे माँ की प्रार्थना किया करता था। 'कल्याण' के 'शक्ति-अंक' को पढ़कर माँ के प्रति विशेष आकर्षण हुआ था। वहाँ एक ब्रह्मचारीजी आते थे। वे अधिकतर देवघर और सुलतानगंज में रहते थे। जिनके यहाँ मेरा आवास था, उनके वे गुरुजी थे। एक बार मैं स्नान करके आया और ओसारे में बैठकर जप कर रहा था। उन्होंने पुकारा। जाने पर पूछा : 'क्या जपता है ?' उन्हें अपना मन्त्र बताया। उन्होंने कान में एक 'बीज' का उच्चारण किया और कहा : 'इस बीज को लगाकर मन्त्र जपा करो।' बाद में, पता चला कि अब वह माँ का अमोघ अष्टाक्षर मन्त्र हो गया है। किन्तु, सरकार ! आपकी शरण में आया हूँ कि विधिवत् दीक्षा देकर कृतार्थ करें।"

उन्होंने छूटते ही कहा : 'हरे ! हरे ! यह क्या कहा आपने ! गुरु ने प्रसन्न होकर कान में बीज डाल दिया, तो दीक्षा-संस्कार का व्याकरण पूरा हो गया। अब उस विद्या की अन्य किसी से दीक्षा लेना गुरु का अपमान होगा। मैं तो किसी को दीक्षा देता नहीं। हमारे जैसे लोग तो इतना ही कर सकते हैं कि आप पूछेंगे, गोदौलिया का रास्ता यहाँ से इसी ओर है न महोदय ! हम बता देंगे, ठीक है, इसी रास्ते से जाइए, आगे चौराहे से मुड़ जाइएगा। फिर, दूसरे चौराहे पर जाकर बायें मुड़कर आगे दाहिने मुड़ जाइएगा, फिर सामने चले जाइएगा, बस। आपकी जो जिज्ञासाएँ हैं, उनके समाधान के लिए कल ठीक एक बजे आ जाइए ! एकान्त में बातें करूँगा।' मैं तो इतने में ही निहाल हो गया !

उसी साल पिछले नवरात्र में कामरूप-कामाख्याधाम गया था। वहाँ साधकवृन्द जुटा था। नैपाल के एक साधक ने, चर्चा चलने पर, कह दिया था : 'आपकी तो विधिवत् दीक्षा ही नहीं हुई। इसलिए, आप तो तान्त्रिक चर्चा के अधिकारी नहीं है। तन्त्रमार्ग में बिना विधिवत् दीक्षा के कोई गति नहीं है।' उसी दिन से मेरा सारा क्रियाकलाप अपने-आप सन्दिग्ध दीखने लगा था। 'संशयात्मा विनश्यति'वाली उक्ति रह-रहकर कुरेदती थी। किसी तान्त्रिक से मैं बातें नहीं कर सकता था। मुझे लगता था कि चौबीस वर्षों तक नित्य दोनों शाम माँ की जो साधना-आराधना की, वह सब व्यर्थ हो गई। जो अनुभूतियाँ हुईं, वे सब दिवास्वप्न-सी हो गईं। किन्तु, आज कविराजजी के आश्वासन ने अपने प्रति दृढ आस्था उत्पन्न कर दी। अब लगने लगा कि मेरी साधना सफल हो गई। उस रात खुशी के कारण नींद नहीं आई। रात-भर विश्वनाथ की उस नगरी में माँ के अष्टाक्षर मन्त्र का जप करता रहा, पूरी आस्था के साथ। मुझे ऐसा प्रतीत होता, जैसे माँ सामने करुणा की दृष्टि से निहार रही हैं। अष्टभुजा वरद और अभय मुद्रा से मुझे धन्य कर रही हैं। मुझे लगा, जैसे सिद्धि मेरे चरणों में लोट रही है। मैं करुणाविह्वल हो माँ की गोद में बेसुध-सा पड़ा रहा। कब नींद आ गई, पता नहीं चला।

सुबह देखा, मेरे मित्र मेरे आगे नतमस्तक थे। उन्होंने अपने विषय में कई जिज्ञासाएँ कीं, जिनका मैंने सही-सही उत्तर दिया। मैंने उन्हें अतीत की कई बातें बताईं, जिनकी उन्होंने पुष्टि की। लगा, जैसे मैं अपने लिए भले अदना आदमी होऊँ, पर दूसरों के लिए सिद्ध पुरुष था, जो वरदान भी दे सकता था, आशीर्वाद भी। कई बातें उनकी पत्नी के

विषय में, और उनके विषय में भी कह गया, जो आगे चलकर सत्य सिद्ध हुईं और वे सपरिवार सदा के लिए मेरे अनन्य भक्त बन गये ।

दूसरे दिन ठीक एक बजे पूज्य कविराजजी के यहाँ गया । वे तैयार बैठे मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे । धरती पर माथा टेक बैठ गया, तब उन्होंने कहना शुरू किया : 'आपको किसी से पत्र लाने की जरूरत नहीं थी । आपको अपनी जिज्ञासा के लिए कहीं जाने की भी जरूरत नहीं है । आपको जिसकी भी जरूरत होगी, गुरु की कृपा से आपके घर पहुँचेगा ।'

गायत्री के पुरश्चरण की चर्चा मैंने की । उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए सहज भाव से कहा : 'गायत्री ! वह तो साक्षात् अग्नि है ?' मैंने कौतूहलवश पूछ दिया : 'कैसे सरकार ?' उन्होंने सामने पड़े कलमदान से रूई निकाली । उसकी ओर देखकर धीरे से फूँक लगाई । उसमें उसी तरह आग जल उठी, जैसे उजले फासफोरस को तेल से बाहर निकालते ही उसमें आग जल उठती है । मैं चकित रह गया !

कविराजजी ने बताया : 'मन्त्रचैतन्य के बिना कोटि जप भी निरर्थक है ।' तदनन्तर, मन्त्रचैतन्य की 'तन्त्रसार' आदि में दी हुई विधि बताई । उन्होंने पूछा : 'सूर्योदय के पहले जगते हैं ?' मैंने कहा : 'सरकार', ब्रह्मवेला में जग जाता हूँ और माँ का ध्यान करता हूँ ।' उन्होंने कहा : 'सुनिए, जो कुछ कहता हूँ, उसपर गौर कीजिए । बिछावन पर ही जगकर पहले गुरु का शक्ति-सहित ध्यान कीजिए—'अखण्डमण्डलाकारं' मन्त्र से । उसके बाद दोनों कानों के छिद्रों को उँगली से बन्द करने पर जो श्वास बाहर जाता और अन्दर आता है, उसपर ध्यान दीजिए । लगभग तीस सेकेण्ड से शुरू कीजिए । नित्य लिखते जाइए कि कब ध्यान देने में असफल हुए ।' मैंने साश्चर्य पूछा : 'तीस सेकेण्ड !' उन्होंने कहा : 'हाँ तीस सेकेण्ड । जब अभ्यास करने लगिएगा, तब पता चलेगा कि कितनी बार ध्यान देने में असफल होते हैं । यदि साढ़े तीन मिनट तक श्वास-प्रश्वास पर ध्यान जम जायगा, तब तो परमहंस हो जाइएगा । अभ्यास करके देखिए, तीन महीने तक यदि इस अभ्यास को आप जारी रख पाये, तो आपके यहाँ कोई दिव्य पुरुष आ जायेंगे, जिनके द्वारा आपके सन्देह का निराकरण हो जायगा । प्रातः काल सूर्य के आवाहन-मन्त्र से सूर्य को प्रणाम कीजिए और उनसे दिन सुखमय बनाने की प्रार्थना कीजिए । सूर्य की प्रथम रश्मि में जपाकुसुम का रंग है, जिसमें माँ का ध्यान आयगा । फिर, माँ प्रकट होंगी, वर देती हुई । यह अभ्यास की बात है । रक्त वर्ण का आसन रखिए, रेशमी या ऊनी आसनी को भी रँग लीजिए ।'

मैंने आसन के विषय में जब टोका, तब बोले : "आसन को आप क्या समझते हैं, वह माँ की गोद है । माँ का यन्त्र बना उसपर आसन रखकर बायें पैर से 'हुं फट्' बोल, ताडित कर उसपर वैसे ही बैठिए, जैसे बच्चा माँ की गोद में निश्चिन्त हो बैठ जाता है । पूजा के लिए अलग रेशमी लाल कपड़ा रखिए । सिले वस्त्र पहनकर पूजा नहीं की जाती । माला इक्यावन दाने की रखिए । ढाई गाँठ दिलवाकर कुमारी कन्या से गुँथवाइए अथवा स्वकान्ता से ।

लाल चन्दन की माला रख सकते हैं। पूजनकाल में अधःवायु-त्याग, जँभाई, आवेग या आवेश वर्जित है। एकान्त में माँ से बातें कीजिए, प्रसन्न मुद्रा में रहिए। उस समय रोने की इच्छा हो, तो माँ की गोद में फूट-फूटकर रोइए। गुरुपूजा के बाद ही गणपति को प्रणाम कर सूर्य या नवग्रह को प्रणाम कीजिए। फिर, बटुक की पूजा के बाद माँ की पंचोपचार पद्धति से पूजा कीजिए। माँ का प्रसाद पाकर ही अन्न ग्रहण कीजिए। भोजन सामने आते ही माँ को निवेदित कीजिए। पैसा पास में आते ही 'कीलक' मन्त्र से माँ को अर्पित कीजिए, फिर उसे माँ का प्रसाद मानकर ग्रहण कीजिए। गुरु की कृपा में ही माँ की कृपा मानिए। सभी कार्यों में गुरुस्मरण, बटुक-स्मरण और मातृस्मरण कीजिए। जो कुछ जीवन में होता है, माँ की इच्छा से होता है। इसलिए, अप्रिय या प्रिय घटना पर अतिशय दुःख वा अतिशय प्रसन्नता प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। अपने जानते उपकार की भावना रखिए। उपकार न बन पड़े, तो अपकार मत कीजिए। माँ को स्मरण कर चलिए, बोलिए, खाइए, सोइए और जागिए। यहाँतक कि रास्ता चलते माँ का जप मन-ही-मन कीजिए। संख्या की परवाह नहीं कीजिए। जब जीभ नहीं चले, मुँह नहीं चले, हल्ला-हसरात में भी माँ का जप चलता जाय, तब जानिए कि 'अजपा' का अभ्यास हो गया। वैसी अवस्था में माँ के चमत्कार का साक्षात्कार क्षण-क्षण होगा। वाणी में विलक्षणता आयगी; भूत, वर्त्तमान और भविष्य को करतलगत कर सकिएगा।"

इतना कहकर उन्होंने पूछा : 'जो कुछ मैं बोल गया उसे दुहराइए।' मैं दुहराने लगा, जब क्रम में गड़बड़ी हो जाती, तब वे टोकते और कहते : 'नहीं, इसके बाद ऐसा कहा था।' उन्होंने तीन बार सभी बातों की आवृत्ति कराई। अन्त में, उन्हें प्रणाम कर बाहर निकला, तो एक महाराष्ट्री सज्जन, जो उनके यहाँ बराबर रहते थे, तथा एक बंगाली सज्जन, जो उनके यहाँ बहुत दिनों से थे और अपने को कविराजजी का शिष्य कहते थे, मेरा पता-ठिकाना पूछने लगे। आश्चर्यपूर्वक कहने लगे : 'गुरुजी ने तान्त्रिक विषयों की सैद्धान्तिक बातें तो हमसे से की हैं, पर इस प्रकार उसके व्यावहारिक प्रश्नों पर कभी बात नहीं की। आप धन्य हैं!' मैंने कहा : 'यह उनकी असीम अनुकम्पा है या माँ की दया!'

इसके बाद भी कविराजजी से अनेक बार मिला, जिनके संस्मरण बृहत् हैं, फिर कभी उनकी चर्चा का अभिलाषी हूँ। उनका परामर्श ही मेरी साधना की थाती है। मैं उन्हें सँभालकर चल रहा हूँ। जीवन में क्षण-क्षण उन दिव्यात्मा की स्मृति प्रेरित करती रहती है।

●●

☐ शक्तिसंवर्द्धन-केन्द्र, अष्टभुजा
विन्ध्याचल (उ० प्र०)

बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह*

[वर्ष १८ : अंक १ से आगे]

अनु० : डॉ० रामप्रकाश पोद्दार
सं० : प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव

उन्नीसवाँ सर्ग

स्नेहमयी पत्नियों और विशुद्ध मैत्री के बन्धन में बँधे मित्रों के साथ **चम्पानगरी** में रमण करते हुए मेरा (नरवाहनदत्त का) कुछ समय बीत गया ।।१।।

एक दिन **गन्धर्वदत्ता** के साथ द्यूतक्रीडा करते हुए मैंने, अपने सामने सहसा (उपस्थित) स्त्रीवेष में एक पुरुष को देखा । उसके दोनों हाथों में (क्रमशः) कपाल और मयूरपिच्छ विराजमान थे और गले में कण्ठी पड़ी थी, जो मानों बँटे हुए इन्द्रधनुष की कान्ति के समान सुशोभित थी । **गन्धर्वदत्ता** ने स्वयं उसे अपना आसन दिया और भक्ति-पूर्वक उसके चरण पखारकर अपने अलंकारों से अलंकृत किया । इससे (उत्पन्न) ईर्ष्या से मेरा गुरु गाम्भीर्य कहीं चला गया, जैसे गन्धहस्ती को मारने की इच्छा से सिंहशावक का गुरु गाम्भीर्य कहीं चला जाय । मेरे मन में यह बात आई कि यहाँ तो इसी कुलमानिनी (गन्धर्वदत्ता) का अपराध है; यह स्त्रीवेषधारी पुरुष तो, जो न स्त्री है और न पुरुष ही, शोचनीय है । इसके बाद, उस स्त्रीवेषधारी पुरुष ने क्रोध से आँखें लाल करके 'तुम मारे गये' यह कहते हुए मेरी ओर मयूरपिच्छ फेंका । वह (मयूरपिच्छ) मेरे केशकलाप के अग्रभाग को हल्के-से छूता हुआ चला गया, जैसे कर्ण द्वारा छोड़ा गया नागबाण अर्जुन के मुकुट के अग्रभाग का स्पर्श करता हुआ चला गया था । उसके बाद, उस (पुरुष) के हाथ से कपाल स्वयं ही गिर पड़ा, जैसे मृतप्राय शक्तिहीन हाथी की सूँड़ से उसका ग्रासपिण्ड (आहार) गिर जाय । अब उस धूर्त्त ने अपनी गँवारू बुद्धि द्वारा (मुझसे) मेल कर लिया; (किन्तु) उसकी कान्ति धूमिल पड़ गई और 'मुझे धिक्कार है', यह बुदबुदाता हुआ वह वहाँ से चला गया । अब भी मैं क्रोध से जल रहा था, तभी **गन्धर्वदत्ता** निःशंक भाव से मेरे पास चली आई, जैसे वडवाग्नि से खौलते हुए महासमुद्र के पास नदी चली जाती है । मैंने सोचा : 'ओह, स्त्रियों का मन त्रास और लज्जा से हीन होता है ! तभी तो यह प्रगल्भा यथापूर्व मेरे पास आ गई है ।' डरी हुई-सी वह मुझसे बोली : 'क्षणभर के लिए ठण्डे हो जायँ, मैं आपसे कुछ निवेदन कर रही हूँ—आपकी क्रोधाग्नि शान्त हो' ।।२-१३।।

'यह, गौरीशिखरवासी विद्याधरपति **गौरीमुण्ड** का भाई **विकचिक** है, जो साधना में लीन रहता है । यह अनेक विघ्नों से संकुल भूतव्रत का आचरण कर रहा है, जिसकी

---

* अनुवाद यथामूल सम्पादित ।—सं०

निर्विघ्न समाप्ति होने पर हमारे मनोरथ विफल हो जायेंगे। (इसलिए,) जो स्त्री, गौरीव्रत धारण करके विचरण करनेवाले इसकी पूजा करती है, उसे महागौरी वर देती है, अन्यथा शाप (दे डालती है)। (मैं) संक्षेप में निवेदन करती हूँ—क्रोध के अतिरिक्त, दूसरा कोई महाबलशाली सर्वसिद्धिविघातक विघ्नविनायक नहीं है। उस सिद्धकल्प (पुरुष) के (क्रोध न करने के) महाव्रत को खण्डित करके स्वयं सन्तुष्ट मैंने गौरी को प्रसन्न कर लिया और इसी के लिए आपको भी रुष्ट किया। इस प्रकार, आपके क्रुद्ध होने से यह (साधक) भी आपके प्रति क्रुद्ध हुआ, फलतः क्षुद्र बुद्धिवाले की विद्या के समान इसकी महाविद्या गौरी द्वारा भ्रष्ट कर दी गई। इसलिए, मैंने यह आपका ही गुरु कार्य किया है, मैंने आपको जो रुष्ट किया, उसके लिए क्षमा करें' ॥१४–२०॥

मन्त्रवादिनी (रहस्योद्घाटिनी) पत्नी (गन्धर्वदत्ता) ने उस प्रचण्ड क्रोध-रूपी ग्रह को धीरे-धीरे मेरे हृदय से दूर कर दिया और उसके मन्त्रसाधन से पुनः मुझमें उत्साह जगा। एक दिन जब मैं (सुखपूर्वक) बैठा था, तभी **सानुदास** ने मुझसे कहा : "यहीं चम्पा में अनुकूल पत्नीवाला एक राजा रहता था। उसने जब दोहद के विषय में पूछा, तब उसकी लज्जाशीला पत्नी बोली : 'मगर, घड़ियाल, केंकड़े, मछली, कछुए आदि से भरे समुद्र में, मैं आपके साथ क्रीडा करना चाहती हूँ।' अनुल्लंघनीय आज्ञावाले राजा ने भी शीघ्र ही मगध और अंगवासियों के द्वारा नदी को बँधवाकर समुद्र के समान विस्तृत सरोवर का निर्माण कराया। उसमें यन्त्रचालित लकड़ी के मगर आदि जलजन्तु भर दिये गये और विमानाकार जलयान पर सवार होकर उन दोनों, राजा और रानी ने (कृत्रिम समुद्र में) विहार किया। उसी समय से राजा ने कोकिलों से कूजित दिनों, अर्थात् वसन्तकाल में (प्रतिवर्ष) वहाँ यात्रा का प्रवर्त्तन किया। मुखर कोकिलों से कूजित वही यह समय (फिर) आ पहुँचा है, देवताओं को भी रमानेवाली वह यात्रा (का समय) उपस्थित है, हम सभी परिजनों से घिरे हुए आप यदि **गन्धर्वदत्ता** के साथ इस (यात्रा) को देखना चाहते हैं, तो देखें" ॥२१–२९॥

तदनन्तर, रात बिताकर, (दूसरे दिन) प्रातःकाल रथ पर सवार होकर, चम्पा-निवासियों के नेत्रकमलों से पूजित होता हुआ मैं (नगर से) बाहर निकला। (रास्ते में) मैंने नयनाभिराम आराम (एक ही प्रकार के पेड़ोंवाला उपवन)[1] की छाया में बसी, कुबेर की नगरी (अलकापुरी) के समान सुशोभित मातंगों की टोली (बस्ती) देखी। उस (टोली) में गन्धहस्ती के समान अतिशय धीर एक मातंग था। काला होते हुए भी उसके शरीर का फैलाव बरसनेवाले मेघ के समान उज्ज्वल था। कालिन्दी के जल के समान काली एक वृद्धा भी थी, जिसके केश भूरे रंग के थे। वह विद्युत्-मण्डल से दीप्त वर्षाकाल की रात्रि के समान लगती थी ॥३०–३३॥

---

१. **विद्यापति की 'दानवाक्यावली' के अनुसार, 'आराम' वह है, जिसमें एक ही प्रकार के पेड़ हों और 'उद्यान' वह है, जिसमें अनेक प्रकार के पेड़ हों।—सं०**

वहाँ मैंने झूले में लीलापूर्वक झूलती हुई एक कन्या देखी, जो मन्द-मन्द हवा के झोंके से झूलती नीलकमल की माला-सी लग रही थी। मैंने सोचा, यदि मेरी कोई काली पत्नी हो, तो वह यही सुकुमारी हो, जिसने अपनी कान्ति से कुंकुम की लाली को मात कर दिया है। उस (सुकुमारी) ने उसी जगह पर ही निश्चल रहकर अपनी नजरों में उसी प्रकार दूर तक मेरा पीछा किया, जिस प्रकार सूर्यमुखी अपनी पंखड़ियों की पंक्ति से सूर्य का पीछा करती है। दूर होते हुए भी मैंने आँखों से उसका आलिंगन किया, जैसे सूर्य (दूर रहकर भी अपनी) अतिशय स्निग्ध प्रभा से प्राची (दिशा) का आलिंगन करता है। दूती और प्रतिदूती की भाँति परस्पर अपनी स्निग्ध दृष्टि को भेजकर उसने मेरे और मैंने उसके प्राणों को अपने वश में कर लिया। हम दोनों के बीच व्यवधान डालनेवाले आराम (उपवन) पर मुझे क्रोध हुआ—मन से तो मैं मातंगी के पास ही रहा, केवल शरीर से (उपवन-स्थित) महासर के तट पर पहुँचा। चूँकि मेरा चित्त अन्यत्र आसक्त था, इसलिए वहाँ रहते हुए भी मैंने उस विचित्र यात्रोत्सव को नहीं देखा, जैसे योगी संसार में रहते हुए भी संसार को नहीं देखता ॥३४–४०॥

उस यात्रोत्सव में मानों मधुपान करके धीरे-धीरे खिसकते हुए सूर्य का बिम्ब ताँबे के रंग का हो गया। मैंने सोचा, कमलिनी के प्रिय सूर्यदेव जिस प्रकार प्राची को अप्रसन्न करके ही उस (अनिर्वचनीया) प्रतीची के पास चले जाते हैं, उसी प्रकार (मैं भी) **गन्धर्वदत्ता** के समक्ष ही मातंगी की प्रशंसा करके उसके पास चला जाऊँ; क्योंकि जैसा राजा का आचरण होता है, वैसा प्रजा का भी। फिर, मैंने सोचा : 'देवता का अनुकरण करना ठीक नहीं। कामी मनुष्यों ने जो रास्ता अपनाया है, मैं उसी का अनुसरण करूँगा।' अतः, मैंने सानुदास से कहा : 'यान-सहित **भरद्वाज** की तनया (गन्धर्वदत्ता) को आप पहले ही नगर में ले जायँ। अन्यथा, रास्ते में पीछे-पीछे चलनेवाले जनसमूह से (उठनेवाली) धूल से, उत्पलों से अलंकृत इसके केशकलाप अतिशय धूसर हो जायेंगे। मैं यात्रिकों के नगर-प्रवेश की शोभा देखता हुआ नागरकों के साथ पीछे से आ रहा हूँ' ॥४१–४७॥

गन्धर्वदत्ता के नगर की ओर चले जाने पर दो युवतियाँ लौटकर आईं और वन्दना करके मुझसे बोलीं : 'देवी ने हमें आज्ञा दी है कि तुम दोनों यात्रा से खिन्न स्वामी का (अपनी) मीठी-मीठी बातचीत से मनोविनोद करना।' तब मैं (नरवाहनदत्त) ने उन दोनों को प्रसन्न करके आभूषण आदि से सन्तुष्ट किया और तेज सवारी से शबरों (मातंगों) की टोली के निकट आ पहुँचा। वह मातंगसुन्दरी वहीं (यथावत्) उसी झूले में झूल रही थी। जाते समय की भाँति आते समय भी वह उसी सरलता से मेरी ओर देखती रही। उसे स्थिरतापूर्वक देखने के लिए मैं अपने यान को धीमे-धीमे चलाने लगा, तभी वे दोनों कुलक्षणी युवतियाँ भी तेजी से वहाँ आ धमकीं। मैंने सोचा : 'लोक में जो कहावत प्रसिद्ध है कि 'शुभकार्य में बहुत विघ्न होते हैं', वह ठीक ही है ॥४८–५३॥

बड़े ही कष्ट से मैं घर लौटा और शून्यभाव से (ऊपर मन से) प्रिया का सम्मान करके मातंगी के संगम की आशा से निद्रा की अभिलाषा करने लगा। आधी रात को मुनि की पुत्री (गन्धर्वदत्ता) सहसा जग पड़ी और जिन दो दासियों को उसने मेरी सेवा में लगाया था, उनसे पानी माँगा। फिर, (अपने) मुँह को धो-पोंछकर प्रसन्न और अलंकृत किया, तब उन दोनों गणिकाओं (दासियों) को सुखपूर्वक अपने सामने बैठाकर पूछा : कामद्रवित स्वामिपुत्र ने मातंगी को अथवा उस चंचलाक्षी ने इन (स्वामिपुत्र) को देखा था क्या ?' तब, उन दोनों ने निवेदन किया : 'स्वामिपुत्र ने उस बेचारी बालिका को उस तरह नहीं देखा, जिस तरह कि उस (बालिका) ने अनिमेष दृष्टि से स्वामिपुत्र देखा।' तब, पहले से ही जगे हुए मुझसे **सुप्रभा** की पुत्री (गन्धर्वदत्ता) ने पूछा : 'जगे हैं कि सो रहे हैं ?' 'जगा हूँ', मैंने ऊँची आवाज में कहा। तब उसने कहा : 'आपका जैसा यह रंग-ढंग देखती हूँ, उससे ऐसा लगता है कि मुझे निश्चय ही **नलिनिका** बनाना चाहते हैं।' 'वह **नलिनिका** कहाँ है ? कौन है, किसकी है ?' इस प्रकार मेरे द्वारा जिज्ञासा करने पर **भरद्वाज** की पुत्री (गन्धर्वदत्ता) ने कहानी सुनाना शुरू किया ॥५४–६१॥

"पश्चिम समुद्र के तट पर इन्द्रनगरी (अमरावती) के समान **काननद्वीप** नाम का नगर है, जहाँ की प्रजा अपने आचार को ही धन के तुल्य समझती है। इन्द्र के गुणों (भोगप्रियता आदि) से रहित वहाँ का राजा (अपनी) प्रजाओं का अतिशय प्रिय था। उसके एक मनोहर पुत्र था, जिसका नाम भी **मनोहर** ही था। उसे सभी विद्याएँ प्राप्त थीं; लेकिन गन्धशास्त्र में उसकी अधिक रुचि थी—विभिन्न रुचिवाले जीवों में किसी को कुछ वस्तु विशेष प्रिय हो ही जाती है। वसन्त ऋतु के **बकुल** और **अशोक** के समान उस (मनोहर) के जो तन्नामक दो मित्र थे, वे प्रेम के कारण उसे कभी नहीं छोड़ते थे, जैसे बकुल और अशोक (वृक्ष के पुष्प) वसन्त को नहीं छोड़ते ॥६२–६५॥

एक दिन, जब राजकुमार (मनोहर) अपने मित्रों के साथ, कुमारावास में था, तभी द्वारपाल ने आकर निवेदन किया : 'चतुर और धीरवचन **सुमंगल** नाम का गन्धशास्त्रज्ञ किसी कारण से आपका दर्शन चाहता है।' 'आओ, उसे यहाँ ले आओ', मनोहर ने द्वारपाल से कहा। और फिर, (उसने उसी क्षण) झटपट अपने शरीर पर विलेपन लगाकर धूप जला दिया। आज्ञा पाकर **सुमंगल** ने ज्योंही दरवाजे से प्रवेश किया, त्योंही वह दोनों हाथों से अपना सिर थामकर और अंगों को सिकोड़कर पीछे हट गया और 'गन्ध-माल्य के विरोधी इस धूप की गन्ध से मेरे सिर में दर्द पैदा हो गया है', ऐसा कहा। फिर, उस (सुमंगल) ने ढक्कन हटाकर अपनी डिबिया से धूप निकाला और स्वयं उसे, **मनोहर** को बार-बार देखते हुए, जला दिया। तदनन्तर, नमस्कार करके वह **मनोहर** से बोला : 'फूलों की गन्ध के सदृश इस धूप को (आप) जलायें।' उस (धूप की) गन्ध से **बकुल** और **अशोक**-सहित **मनोहर** विश्वस्त हो गया (और तब उसने) गन्धशास्त्रज्ञ **सुमंगल** का बहुत सम्मान किया। इस प्रकार, सम्मानित होकर चतुर **सुमंगल** ने तीन-चार दिनों में ही राजकुमार को प्रसन्न कर लिया ॥६६–७४॥

एक दिन **बकुल, अशोक** और **सुमंगल** के साथ **मनोहर** मन को हर लेनेवाला यक्षयज्ञ देखने गया। वहाँ उसने इधर-उधर (जहाँ-तहाँ) अनेक अद्‌भुत दृश्य देखने के क्रम में चित्रविन्यस्त यक्षी की प्रतिमा देखी। वह निर्जीव होते हुए भी मानों स्फुरणशील थी और मूक होते हुए भी मानों मधुर वाणी में बोल रही थी। वह चित्र में अंकित थी, फिर भी उस (मनोहर) ने उसे, अतिशय अनुरागवश, अपने हृदय में अंकित कर लिया। मन और आँखों को रमानेवाले अन्य दृश्यों को छोड़कर वह पुष्प, गन्ध, धूप आदि से एकमात्र उसी की पूजा में लग गया। काम की प्रबलता से उसकी, भोग्याभोग्य-विचार की शक्ति जाती रही और उसने, जैसा कहा जाता है, उस (यक्षी-प्रतिमा) के नितम्ब से वस्त्र को खींच लेने की चेष्टा की ।।७५–७९।।

पद्मा (लक्ष्मी) जिस प्रकार पद्मसरोवर को छोड़कर विष्णु के वक्ष से जा लगी हो, उसी प्रकार वह (यक्षी) भी चित्रभित्ति को छोड़कर नील नभस्तल से जा लगी। और, उसने राजकुमार से कहा : "मैं **सुकुमारिका** नाम की यक्षी हूँ, कुबेर के शाप से मुझे चित्र-शरीर प्राप्त हुआ था। मैंने जब शापान्त की प्रार्थना की, तब नारियों के प्रति सदय एवं क्षणिक रोषवाले उन्होंने (कुबेर ने) गम्भीरता से सोचकर आश्वस्त किया : 'जो मनुष्य चित्र में न्यस्त शरीरवाली तुम्हें अप्रतिष्ठ करेगा, वही तुम्हारे शाप का अन्त करेगा और तुम्हारा पति भी होगा।' इस प्रकार, राजराज (कुबेर) ने तुम्हें मेरा पति बनाया है। महात्माओं का शाप भी वरदान के सदृश ही होता है। यदि तुम्हें मुझसे प्रेम है, तो सुर और असुर के लिए क्रीडास्थल-स्वरूप **श्रीकुंज** शैल पर अवस्थित यक्षावास में चले आओ" ।।८०–८५।।

तदनन्तर, यक्षी अन्तर्हित हो गई और **मनोहर** तीव्र मूर्च्छा में पड़ गया। उसको इस अवस्था में देखकर **बकुल** आदि विषाद में पड़ गये। जब उसकी संज्ञा लौटी, तब उन लोगों (बकुल आदि) ने (उससे) यक्षी की कथा सुनकर कहा : 'आकुल होना व्यर्थ है, **सुकुमारिका** सुलभ प्रतीत होती है। यदि वह (श्रीकुंज) शैल दुर्गम होता, तो तुमसे सम्भोग की आकांक्षा रखनेवाली **सुकुमारिका** वैसा नहीं कहती (श्रीकुंज शैल पर आने का निमन्त्रण नहीं देती) ।।८६–८८।।

एक दिन वह (मनोहर) अपने मित्रों के साथ पिता से मिलने गया। वहाँ उसने सफल यात्रा से लौटे हुए एक पोतवणिक् (समुद्री व्यापारी) को देखा, जिसने राजा को एक श्रेष्ठ रत्न भेंट किया। राजा ने भी उसका (उचित) सत्कार किया और पूछा : 'आपने (अपनी समुद्रयात्रा में) कौन-कौन-सा आश्चर्य देखा?' उसने उत्तर दिया : "समुद्रतट पर बसनेवाले आप श्रीमान् ने भला कौन-सा आश्चर्य नहीं देखा है, समुद्र तो आश्चर्यों की निधि ही है। किन्तु, एक बार, जब तूफान से मेरा बेड़ा डूब गया था, तभी मैंने सघन स्वर्णाभा से रक्तपीत वर्णवाली ऊँची शिखरमाला से अलंकृत एक पर्वत देखा। 'यह क्या है?' इस प्रकार मेरे पूछने पर पोतचालक ने कहा : 'वृद्धों ने इसे ही **श्रीकुंज** पर्वत कहा है'।" इस प्रकार की बातें कहकर वह वणिक् (समुद्री व्यापारी)

अपने घर चला गया और राजकुमार (मनोहर) भी राजा को प्रणाम करके (उठा और) उस (वणिक्) का अनुसरण करते हुए (उसके घर पर) पहुँचा। अब उस वणिक् ने भय से अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर दिया—घर में आये हुए राजपुत्र से भला कौन समृद्धिशाली व्यक्ति त्रस्त नहीं होता? किन्तु, उस (राजकुमार मनोहर) ने केवल फूलों की एक माला ली और कहा : 'गुरुजनों के सत्कार की अवहेलना बच्चों के लिए उचित नहीं है। किन्तु, पितृपाद के समक्ष तुमने जो **श्रीकुंज** के विषय में कहा, उसके प्रति मेरा बड़ा कुतूहल है, अतः (उसके बारे में) बताओ।' उस (राजकुमार) के मधुर वचनों से अतिशय आश्वस्त होकर वह (परिचायक) चिह्नों के साथ **श्रीकुंज** का वर्णन करने लगा ॥८९–९८॥

"एक बार, मदमत्त महादुष्ट गजराज के समान वायु के वेग से जलयान अपनी स्थिरता खोकर अनियन्त्रित हो गया। जब समुद्र में वात का उत्पात शान्त हो गया, और आकाश भी स्थिर हो गया, तब मैंने जल में संचरणशील विचित्र आकृतियोंवाले प्राणियों को देखा। झुण्ड-के-झुण्ड सिंह, व्याघ्र, हाथी, गैंड़े, रीछ और मृग जल में डूबने-उतराने की क्रीडा कर रहे थे। दूसरी ओर कनफटे, नंगे, पशुधर्मी स्त्री-पुरुषों के जोड़े थे, जिनकी ध्वनिमात्र ही भाषा थी। कहीं, लम्बे पंखोंवाले बड़े-बड़े नाग (दैत्य)[1] समुद्र से निकलकर उड़ (उछल) रहे थे। सहसा उत्तर की हवा के साथ आई सुगन्ध फैल गई, जिसके सूँघने के लिए ही मानों सारा संसार घ्राणमय बनाया गया हो। कुतूहलपूर्ण दृष्टि से गन्ध के उत्पत्ति-स्थल को देखने के क्रम में मैंने दूर में एक पर्वत देखा, जिसके रत्नमय शिखर पर किन्नर विराजमान थे। 'यह क्या है?' इस प्रकार मेरे पूछने पर पोतचालक ने कहा कि वृद्धों ने इसे ही **श्रीकुंज** शैल कहा है।" यह सब जो कुछ भी उस (पोतवणिक्) ने कहा, उसे मनोहर ने एक सम्पुटक (फलक) पर, सागर, देश और दिशा के स्पष्ट निर्देश के साथ, अंकित कर लिया ॥९९–१०७॥

इसके बाद समुद्री व्यापारी के घर से लौटकर उस (मनोहर) ने एक पोतवहन (जलयान) तैयार कराया, उसपर कुशल नाविकों को नियुक्त किया और **बकुल** आदि के साथ समुद्रयात्रा पर निकल पड़ा। महावेगवान् अनुकूल वायु से प्रेरित जलयान के द्वारा वह शीघ्र ही ईप्सित दिशा में पहुँच गया। फलक पर अंकित चिह्नों के सादृश्य से निश्चय करके वह मन, चक्षु और शरीर से एकबारगी **श्रीकुंज** पर्वत पर पहुँच गया। इसके बाद ही आशा के आकाश (दिशाकाश = क्षितिज) के समान विशाल और ऊँचा वह जलयान सोपान (समुद्रतट) से, जिसकी नीली चट्टानों को जलनिधि के जल की तरंगें पखार रही थीं, आ लगा ॥१०८–१११॥

---

१. आप्टे के अनुसार, एक काल्पनिक नागदैत्य, जिसका मुख मनुष्य जैसा और पूँछ साँप जैसी होती है तथा जो पाताल में रहता है। उड़नेवाले पंखयुक्त काले नागों (भुजपरिसर्प) की भी कल्पना सम्भव है। 'वसुदेवहिण्डी' में, उड़नेवाले भुजपरिसर्प (खारक) की चर्चा आई है।—सं०

अत्यन्त उत्कण्ठावश अपने मित्रों को वहीं (समुद्रतट पर) छोड़कर **मनोहर** ने शैलाग्र का वैसे ही आरोहण किया, जैसे धर्म स्वर्ग का आरोहण करता है। यक्ष स्त्री-पुरुषों का समूह उसे हर्षपूर्वक देख रहा था—संकल्प-चक्षु से देखता हुआ वह **सुकुमारिका** के पास पहुँच गया। वहाँ किसी स्त्री ने कहा : 'धन्य है **सुकुमारिका**, जिसने देवकुमार-सदृश इस पुरुष से प्रेम किया है। सुर, असुर और मनुष्यों में यह किसके लिए मनोहर नहीं है, जो शरीर आदि-विषयक सहज आहार्य गुणों से युक्त है।' तदनन्तर, **मनोहर** ने अपने संकल्पपूर्ण हृदय के समान (उस) यक्ष-मन्दिर के विशाल प्रांगण में उसे (सुकुमारिका को) क्रीडा करते हुए देखा। गणिका-सुलभ प्रगल्भता के साथ वह उसके निकट आई और स्वेदपूर्ण पुलकित हाथों को पकड़कर उसे (घर के) भीतर ले गई ।।११२–११७।।

वहाँ उसने उसके पिता को देखा, जिसने अभी जूए का खेल प्रारम्भ ही किया था और जिसकी आँखें लाल थीं, मदपूर्ण शरीर से सुनहली आभा छिटक रही थी और उसके तोंद निकली हुई थी। उसने उसे (मनोहर को) गोद में बैठाकर उसका सिर सूँघा। तदनन्तर, 'सास के दर्शन करो' ऐसी अनुज्ञा उससे प्राप्त कर मनोहर ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, जहाँ की स्त्रियों, यहाँतक कि उस (मनोहर) के सास-ससुर की पितामही का भी भरपूर यौवन कर्णिकार-माला की तरह जगमगा रहा था। वहाँ उसने उनका अभिवादन किया और उनसे स्नेह के साथ अभिनन्दित और अनुज्ञात होकर कन्यागृह में प्रविष्ट हुआ। दिव्य स्त्रियों के द्वारा परिवेषित दिव्य मधु का पान (और उनके द्वारा बजाई गई) दिव्य वीणा के स्वर की श्रुति ने **मनोहर** का मन हर लिया। इस प्रकार की स्थिति में, वह अभी क्षणभर बैठा ही था कि **सुकुमारिका** ने कहा : 'पाँच दिन बीत गये, इसलिए हे कुमार, अब आप लौट जायँ। चूँकि, यह देवलोक का एक प्रदेश है, इसलिए यहाँ मनुष्य-मात्र को पाँचवें दिन के बाद ठहरने को (स्थान) नहीं मिलता है। पोतवाहक भी आपको छोड़कर चले जा सकते हैं; क्योंकि वे जहाज के स्वामी की प्रतीक्षा पाँच दिनों तक ही करते हैं।' यह सुनकर, स्वर्ग से गिरते हुए देवपुत्र के समान राजकुमार (मनोहर) की आभा अतिशय मलिन पड़ गई। उसे उस रूप में देखकर **सुकुमारिका** ने कहा : 'आज से मैं तुम्हारे ही घर आया करूँगी'।।११८–१२७।।

(इस प्रकार,) उसके द्वारा धीरज बँधाने पर वह (अपने) जहाज पर लौट आया, जहाँ पोतवाहक उद्विग्न हो रहे थे; वहाँ उसने (अपने) मित्रों को दिव्य रत्न, वस्त्र और मालाओं से अलंकृत देखा और जब उसने उनसे पूछा कि 'इन (पाँच) दिनों में तुम सभी कहाँ और कैसे रहे', तब उन्होंने उत्तर दिया : 'जैसे आपने अपने दिन बिताये, वैसे ही हमने भी। **सुकुमारिका** से आदिष्ट हर्षोत्फुल्ल यक्षियाँ, जैसे सुरांगनाएँ सुरों की सेवा करती हैं, वैसे ही हमारी सेवा करती रहीं। महादेव की उपासना करनेवाले मनुष्य मरकर देवत्व प्राप्त करते हैं, किन्तु देव (आप) की सेवा से हमने इसी देह से देवत्व प्राप्त किया। इस प्रकार की यक्षी की कथा में अनुरक्त उन्होंने महाभयंकर और लम्बे मार्ग से युक्त महोदधि को मानों उन्हीं यक्षियों के बल से पार कर लिया ।।१२८–१३२।।

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) की प्राप्ति के हेतुभूत समस्त व्यापारों से रहित, उन (मनोहर आदि) के वियोग से आर्त्त सूने राजपथवाले नगर में उन्होंने प्रवेश किया। तभी, किसी प्रयोजन से एक वृद्धा ब्राह्मणी घर से निकली, जिसने सिर पर अवगुण्ठन डाले हुए **मनोहर** को देखा। उसे पहचान कर वह हर्ष से गिरती-पड़ती हुई (मनोहर की) प्रतीक्षा में रत राजदरबार में पहुँची और उसने राजा को (मनोहर के लौटने का समाचार देकर) परितुष्ट किया। राजा ने मन्त्री आदि समस्त पुरवासियों को मना कर दिया कि कोई लड़के से यह न पूछे कि 'आप कहाँ गये थे?' लज्जित राजकुमार (मनोहर) ने राजा की वन्दना की। राजा ने उसे गोद में बैठाकर उसकी लज्जा दूर कर दी ।।१३३–१३७।।

अपने भवन में आकर उस (मनोहर) ने **सुमंगल** से कहा : 'गन्धशास्त्र के फल के सारभूत (उत्कृष्टतम) धूप का आयोजन करो। आज (अपनी) सखियों के साथ तुम्हारी सखी (सुकुमारिका) आ रही है; जिसमें सुगन्ध की प्रधानता हो, ऐसी रति को अनिन्दित कहा गया है। जिस 'यक्षकर्दम'[1] को हमलोग 'गन्धराज' कहते हैं, वह तो उन (यक्षियों) के लिए कर्दम (कीचड़) के समान है, इसीलिए इसे 'यक्षकर्दम' कहते हैं। अतएव, आज आदरपूर्वक अपने शास्त्र को प्रदर्शित करो—सार (लक्ष्य) का वेध ही समस्त धनुर्वेद का सौष्ठव है।' इस प्रकार, उस (मनोहर) के द्वारा प्रोत्साहित होकर और अपने स्वार्थ से भी, **सुमंगल** ने, आदेश के अनुसार, धूप और स्नानहेतु गन्धोदक (सुगन्धित जल) का आयोजन किया। **मनोहर** ने अपने मित्रों के साथ कामुक-वेश की रचना की और सद्यः आनेवाली प्रियतमा से शून्य दुःखशय्या का आश्रय लिया ।।१३८–१४३।।

तब, पूर्वोक्त प्रकार से, यत्न द्वारा साधित वैसा वह गन्धद्रव्य किसी सुखद हवा से प्रेरित मेघ के समान फैल गया। (अपनी) कान्ति से चन्द्रकान्त आदि मणि की चमक को मानों मलिन करती हुई **सुकुमारिका** ने सहसा प्रवेश किया और पलंग पर जाकर बैठ गई। उसके बाद, मुस्कराती हुई उसने **बकुल** आदि को देखा और बोली : 'मैं अपनी सहायिकाओं के साथ आई हूँ, (इसलिए) आप सभी जायँ और विश्राम करें।' प्रणाम करके उन सबके चले जाने पर कुमार और **सुकुमारिका** ने अपने मन में यथासंचित उत्कण्ठा के अनुरूप

---

१. श्रीवामन शिवराम आप्टे के अनुसार, एक प्रकार का लेप, जिसमें कपूर, अगर, कस्तूरी और कंकोल समान मात्रा में डाले जाते हैं। कतिपय अन्य विद्वानों के अनुसार, चन्दन और केसर भी इसमें सम्मिलित किये जाते हैं। अमर-कोशकार ने कहा है : 'कर्पूरागुरुकस्तूरीकक्कोलैर्यक्षकर्दमः।' अन्यत्र भी 'महासुगन्ध' की परिभाषा इस प्रकार है :

कुङ्कुमागुरुकस्तूरी कर्पूरं चन्दनं तथा।
महासुगन्धमित्युक्तं नामतो यक्षकर्दमः ।।

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि यक्षपूजा में 'यक्षकर्दम' या 'महासुगन्ध' का प्रयोग अभीष्ट है।—सं०

रात बिताई। सुबह होने पर, सम्भोग से रमणीय शरीरों के माध्यम से **बकुल** आदि ने अपना-अपना रात्रिवृत्त राजकुमार से कह सुनाया। प्रत्येक रात्रि में वे सभी (मनोहर और उनके मित्र यक्षियों से) मिलते थे और दिनभर वियुक्त रहते थे; इस प्रकार, उन (यक्षियों) से मिलते-बिछुड़ते हुए उनका एक वर्ष बीत गया, फिर भी उन्हें उसका पता नहीं चला ।।१४४–१४६।।

एक दिन रोती और आँसू बहाती हुई **सुकुमारिका** उस (मनोहर) से बोली : 'स्वाधीन (यक्षियों) की पराधीन (मनुष्यों) के साथ ऐसी ही (क्षणिक) संगति होती है। आज से मुझे सखियों के साथ, एक वर्ष तक, ब्रह्मचर्य धारण करके, कुबेर की सेवा में लगना है। अष्टमी आदि पर्वों के अवसर पर मैं माता-पिता की वन्दना के लिए अपने घर जाऊँगी, आप भी वहाँ चल सकेंगे। आपकी संगति से जो प्रदेश सुन्दर बन गया है, उसे भी देखकर जीया जा सकता है, फिर अमृतपान भी जिसके समक्ष तुच्छ है, वैसे आपके पुनर्दर्शन का क्या कहना !' ऐसा कहकर उसके चले जाने पर **बकुल** आदि वहाँ आ गये। उन्होंने देखा कि **मनोहर** आकाश की ओर देख रहा था और 'वह जा रही है', ऐसा बोल रहा था। जब **बकुल** और **अशोक** के साथ राजकुमार शोकमग्न हो रहा था, तभी सन्तोष से गद्गद वाणी में **सुमंगल** जोर से बोल उठा : 'अकारण विषाद व्यर्थ है, रास्ता तो मालूम ही है, अपने जलयान पर सवार होकर हम क्षणभर में उस यक्षपर्वत पर पहुँच जायेंगे। वहाँ (अपनी-अपनी) उन प्रियतमाओं का ध्यान करते हुए और बीच-बीच में उन्हें देखते हुए हम मिलन-रूपी धन की प्राप्ति की आशा में जीवित रहकर एक वर्ष का समय बिता देंगे' ।।१५०–१५७।।

तदनन्तर, वह (राजकुमार) उस जहाज से समुद्रयात्रा पर चल पड़ा। किन्तु, वह जलयान (प्रतिकूल) वायु में कहीं दूर जाकर भटक गया और डूब गया। किन्तु, सिद्धविद्या के समान अपनी दयिता (प्रेमिका) का स्मरण करते हुए राजकुमार ने उस अनिष्टकर दारुण विपत्ति पर ध्यान ही नहीं दिया। समुद्र से बाहर निकलकर जब वह तट (तटवर्त्ती जंगल) से चल रहा था, तब चोरों की सेना ने उसे कैद कर लिया और उसके सारे आभूषण छीन लिये। इसके बाद ही, वह चोरसेना चारों ओर से अश्वसैन्यों (घुड़सवारों) से घिर गया। उन्होंने (अश्वसैन्यों ने) चोरों को पीटा और उन्हें बाँधकर पेड़ों में लटका दिया। (उसके बाद) सुन्दराकृति एक पुरुष राजकुमार के सामने आया और प्रणाम करके, उसे हथिनी की पीठ पर बैठाकर, सेना-सहित आगे-आगे चल पड़ा। बन्दिजनों द्वारा की गई गुणस्तुति के साथ थोड़ी दूर जाने के बाद, **मनोहर** नगर में पहुँचा ? जिसके चौराहे या प्रांगण कुंकुम से आलिप्त थे। मधुर आवाजवाली अनेकविध विहगों की पंक्ति जैसे रत्ननिर्मित बन्दनवारों के मधुर झंकार को सुनता हुआ वह (नगर में) आया और नगर के अनुरूप शोभावाले राजप्रासाद में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने, हथिनी से उतरकर, विशाल मण्डप में बैठे इन्द्राकार राजा की वन्दना की। उस (राजा) ने भी उसका गाढ आलिंगन किया और वह बहुत देर तक प्रीतिपूर्वक उसे निहारता रहा। शरीर के अंगों को बार-

बार देखकर राजा उससे बोला : '**सुमंगल** से दूसरा चक्षुष्मान् (दृष्टिशक्तिवाला) भला कहाँ है ?' ।।१५८–१६७।।

राजकुमार ने सोचा : '(राजा द्वारा चर्चित) यह वही **सुमंगल** हो सकता है, कदाचित् जहाज डूबने के कारण भयाक्रान्त वह भटककर इधर चला आया है।' तभी 'जाओ तात, विश्राम करो', इस प्रकार राजा के कहने पर वह (मनोहर) प्रासाद में प्रविष्ट हुआ। प्रासाद में वहाँ उसने देखा कि वही **सुमंगल** सिर झुकाकर उसे प्रणाम कर रहा है। उसने उससे पूछा : 'ओ भद्र ! तुम्हारे प्राणतुल्य और मेरे भुजास्वरूप मित्र **बकुल** और **अशोक** सकुशल तो हैं ?' उसने उत्तर दिया : "बकुल और अशोक सकुशल घर चले गये; मैं यहाँ जिस प्रकार आया हूँ, (तुम) उसे तथावत् सुनने की कृपा करो : 'यह **नागपुर** नगर है, जिसके गुणों का आख्यान बार-बार हुआ है। यह राजा **पुरन्दर** हैं, जिन्हें आपने अभी देखा है। इनके जयन्त नामक पुत्र है, जो शूर होने के साथ ही सुन्दर, कवि और चतुर है। यह वही है, जो आपको समुद्रतटवर्त्ती जंगल से (हथिनी पर चढ़ाकर यहाँ) ले आया है। इन्हीं राजा (पुरन्दर) के **नलिनिका** नाम की पुत्री है। यह वैसी है, जिसके सदृश इस लोक में न तो कोई सुन्दरी है, न ही इसके योग्य कोई वर है। वरान्वेषण के क्रम में इसके पिता ने गुण और रूप के अन्तर का ज्ञान रखनेवाले व्यक्तियों को द्वीपान्तरों में भी भेजा; पर सभी विफलमनोरथ रहे। इस प्रपंच में जब बहुत समय चला गया, तब इस (राजा) ने मुझे बुलाकर दीनता के साथ मुस्कराते हुए कहा : 'तुम केवल हमारे सभी गणाध्यक्षों के अग्रणी ही नहीं, अपितु हे तात ! इस संकट से उबारकर हमारे रक्षक भी बनो। कुल, शील, वय और रूप में जो इस (नलिनिका) के सदृश वर हो, उसी का तत्परतापूर्वक अन्वेषण करो—सम्पत्ति-मद के रोगी (वर) का परित्याग करो। प्रचुर श्रेष्ठ धन से समृद्ध होने पर भी गुण-रूपी धन से हीन व्यक्ति सज्जनों के लिए दरिद्रों से भी अधिक शोचनीय है' ।।१६८–१७९।।

तब, मैंने फलक पर **नलिनिका** का चित्र अंकित करके वर खोजने की इच्छा से अट्ठारहों द्वीपोंवाल पृथ्वी का परिक्रमण किया। बहुत यत्न करने पर भी जब ईप्सित वर नहीं मिला, तब मैंने प्राणत्याग का संकल्प करके, समुद्र में डूबने की इच्छा की और **काननद्वीप** पहुँचा। वहाँ घूमते हुए मैंने, आपके गुणों की चर्चा में आसक्त, सौजन्य की सम्पदा से विभूषित अनेक व्यक्तियों को देखा। तब, मेरा वह स्थिर अधैर्य और प्राणत्याग का वैसा निश्चय आपकी कीर्त्ति (को सुनने) से उसी प्रकार दूर हो गया, जिस प्रकार ज्योत्स्ना से अन्धकार का समूह। लोगों से यह जानकर कि आपको गन्धशास्त्र का व्यसन है, तो मैंने भी आपके समक्ष अपने को गन्धशास्त्रज्ञ घोषित किया। चूँकि, स्वामी के अनुजीवी ज्ञान और स्वभाव में स्वामी के तुल्य ही होते हैं, इसलिए गुणहीन होने पर भी वे शीघ्र ही मन को प्रसन्न कर लेनेवाले होते हैं। जब आपने (अपने) मित्रों के साथ गन्ध-माल्य के प्रतिकूल (गन्धवाला) धूप जलाया, तभी मैंने जिज्ञासा की। मैंने जो गन्ध-माल्य के अनुकूल (गन्धवाले) धूप की

योजना की, उसी क्रम में मैंने फलक पर अंकित अपनी स्वामिपुत्री (के चित्र) को देखा ।।१८०–१८७।।

उसे, फिर आपको देखकर मैंने अपने को, धन्यजन्माओं में (अन्यतम) माना तथा राजकुमारी और विधाता को भी कृतार्थ समझा। इसलिए, स्वार्थतत्पर मैं आपका अपहरण करने के लिए, यहाँ से गया था; किन्तु वहाँ आपके साधु-सुन्दर गुणों ने मेरा ही अपहरण कर लिया। वैसा सत्कार पाकर भी मैं आपके अपहरण की ही ताक में था—स्वामी का प्रिय चाहनेवाले भृत्य पापाचार करते ही हैं ।।१८८–१९०।।

आपके संगम के कारणभूत **नलिनिका** के पुण्यों से ही **सुकुमारिका** (कुबेर) के सेवाचरण के व्याज से चली गई। यह अवसर पाकर मैंने आपको उतावला कर दिया और (इसी उद्देश्य से) तैयार रखे गये (अपने) जलयान के द्वारा समुद्र का भी सन्तरण कराया। जिस प्रदेश में समुद्र विपन्न पोत को सकुशल पार होने का अवसर देता है, वहाँ कोई पोत विपन्न नहीं होता। इसीलिए, **बकुल** और **अशोक**—दोनों सकुशल घर चले गये। इस नगर में जैसे आप आये, वैसे ही मैं भी आया। इसलिए, आज ही आप **नलिनिका** को स्वीकार करें। स्वयं आई हुई श्री के लिए समय का अतिक्रमण उचित नहीं है" ।।१९१–१९५।।

हाथी जिस प्रकार पद्मसरोवर का उपभोग करता है, उसी प्रकार सर्वाकारमनोहरा उस(नलिनिका)को प्राप्त करके **मनोहर** ने इच्छानुसार उसका उपभोग किया। **सुमंगल** ने उसे (नलिनिका को) बता दिया कि 'रात में कभी पृथक् मत सोना। तुम्हारे पति की प्रेमिका (सुकुमारिका) यक्षिणी है, इसलिए वह उसका कहीं अपहरण न कर ले ।।१९६-१९७।।

एक दिन राजकुमारी राजकुमार पर गुस्सा कर बैठी और क्षणभर के लिए पृथक् होकर, उन्निद्र रहकर भी सनिद्र की तरह सोयी रही। इधर (कुबेर की) सेवावधि का एक वर्ष पूरा हो गया था, सुकुमारिका (आई और) **मनोहर** को अलग सोया हुआ पाकर उसे उठा ले गई ।।१९८–१९९।।

(यह कथा सुनाकर गन्धर्वदत्ता ने नरवाहनदत्त से कहा :) जैसे **सुकुमारिका** ने **नलिनिका** के पति का अपहरण कर लिया, वैसे ही कहीं यह मातंगकन्या आपका भी न अपहरण न कर ले। इस कन्या को आप जैसी समझते हैं, वैसी यह नहीं है—देवकुमार चण्डाल-कन्याओं में अनुरक्त नहीं होते। इस नलिनिका की कथा को स्मरण रखने के लिए ही आपसे मैंने कहा है, इसलिए कि, उसकी दुःखान्त कथा मेरे साथ चरितार्थ न हो" ।।२००-२०२।।

(मातंगकन्या को छोड़) मैं किसी दूसरे को नहीं चाहता, ऐसा मुझे मत समझो।' इस प्रकार कहकर, मैंने (गन्धर्वदत्ता) के समक्ष कामुकों की कुटिल प्रथा का आचरण किया। (किन्तु,) **गन्धर्वदत्ता** की बातों से अवश्य ही वह मातंगकन्या मुझे ततोऽधिक प्रिय लगने लगी—मदिरा स्वभावतः मद उत्पन्न करती है, फिर प्रेयसी के मुख के साथ उसके आस्वाद की रमणीयता का तो कहना ही क्या है ! ।।२०३–२०४।।

बुधस्वामी-कृत 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' में 'अजिनवतीलाभ' के अन्तर्गत 'नलिनिकाख्यान' नामक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

बीसवाँ सर्ग

वसन्त का अन्त आ गया था, पाटलवृक्षों में कलियाँ कम हो चली थीं; सुखद पवन और चन्दन (की शीतलता के सहारे) मैं (वियोग के) दिनों को बिता रहा था। एक बार **दत्तक** ने आकर हँसते हुए मुझसे कहा : 'स्वामिपुत्र ! आपके लिए एक विचित्र कौतुक का अवसर उपस्थित हुआ है। राजमार्ग पर मैंने एक वृद्धा स्त्री को देखा। वह अपनी प्रभा से दिप रही थी और वरदान के इच्छुक नागरजन 'देवि !' 'देवि !' कहकर उसकी वन्दना कर रहे थे। वह मुझपर अधिकार जताती हुई-सी बोली : 'बेटे ! स्वीकार करो, मैंने अपनी कन्या **अजिनवती** तुम्हारे स्वामी को अर्पित कर दी है' ॥१–४॥

मैंने उससे कहा : 'देवि ! भृत्य होने के कारण मैं परवश हूँ; इसलिए स्वामी से पूछकर आ रहा हूँ, क्षणिक विलम्ब के लिए क्षमा करो।' मैं (नरवाहनदत्त) ने (दत्तक से) कहा : 'उस (वृद्धा) के साथ हँसते हुए हम सुखपूर्वक बैठें, इसलिए मेरी ओर से उसे यह कह दो कि वह यहीं आ जाय। कन्या का दान और उसका ग्रहण बहुतों से पूछकर करना चाहिए। मेरे जो पूछने योग्य हैं, उनसे मैं तबतक पूछता हूँ। और, यदि कोई दोष न हो, तो वह (वृद्धा) इसी घर में आ जाय; क्योंकि तुम्हारे (उस वृद्धा के) जैसे अतिथि का सत्कार कल्याण का कारण होता है।' तदनन्तर, मेरे द्वारा भेजा हुआ **दत्तक** गया और लौट आकर भयमिश्रित गम्भीर वाणी में मुझसे बोला : "आपके सन्देश को सुनकर वह (वृद्धा) भयंकर हँसी हँसती हुई बोली कि 'साधुओं की सेवा करनेवाले महाकुलीनों के आचार का क्या कहना ! क्या तुम्हारे मित्र को इस विषय में राजा **उदयन** से पूछना है या देवी **वासवदत्ता** से या **पद्मावती** से ? या फिर, **रुमण्वान्** आदि से या **हरिशिख** आदि से, जो उन्होंने कहा कि मेरे कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, जिनसे मैं तबतक पूछ लूँ। वे जो मुझे आज्ञा देते हैं कि 'यहीं आ जाओ', तो मैं पूछती हूँ, क्या गुरुजनों की सेवा करनेवाले व्यक्ति गुरुजनों का इस प्रकार अपमान करते हैं ? अथवा, शीघ्र ही वे स्वयं अनुभव कर लेंगे कि मैं उनके पास जाऊँगी या वे मेरे पास आयेंगे।" ऐसा कहकर, विशाल उल्का जैसी वह (वृद्धा) मुख से निकल रही ज्वालाओं से चम्पा के एक भाग को जलाकर तिरोहित हो गई !' ॥५–१५॥

मैं (नरवाहनदत्त) ने सोचा : निश्चय ही, यह चतुर वृद्धा भाग्यफल बतानेवाली ज्योतिषी है या इन्द्रजाल का प्रयोग करनेवाली मायाचारिणी भी हो सकती है। (यह घटना) **भरद्वाज** की पुत्री (गन्धर्वदत्ता) के लिए भी अतिशय सन्त्रास का कारण बन गई है, फलतः उसे सन्ताप का ज्वर हो आया है, जो मेरे हृदय को भी सन्तप्त कर रहा है। कमलतन्तु, हवा, मोतियों की माला, जल से भींगा वस्त्र और चन्दन, साथ ही मेरे अंगों के आलिंगन से भी उसका ताप दूर नहीं हुआ है ॥१६–१८॥

तभी, मेघरहित आकाश इन्द्रधनुष, विद्युत् और बकपंक्ति से चिह्नित काले बादलों से आच्छन्न हो गया। मूसलधार वृष्टि से युक्त पछिया हवा से सन्ताप को दूर करने के लिए, हम सभी चूने की गाढ़ी पुताई से उज्ज्वल प्रासाद के शिखर पर आरूढ हो गये। वहाँ दास-दासियों के उत्तरीय वस्त्रों से नाले आदि को बन्द करके (जलद्रोणी में) पछिया हवा

से खूब ठण्डे जल को एकत्र किया और उसमें, दूसरों के लिए छाती-भर (पानी में ही) डूबते हुए कुबड़ों और बौनों ने धीरे-धीरे उपशमित तापवाली **गन्धर्वदत्ता** को खूब हँसाया। इस प्रकार, प्रासाद के शिखर पर स्थित महाह्रद में हमें क्रीडा करते देखकर, मानों जलक्रीडा करने के लिए ही सूर्य ने पश्चिम समुद्र में प्रवेश किया (अर्थात्, साँझ हो गई)। बहुत देर तक शीतलता का सेवन करने से **गन्धर्वदत्ता** का न केवल आगन्तुक सन्ताप ही दूर हो गया, वरन् वह शीतपीडा से भी आतुर हो उठी। तब, मैंने ताप और शीत को दूर करनेवाले अपने वक्षःस्थल, बाहु और वस्त्रों द्वारा उसे लगातार ढककर शीतरहित कर दिया। (उत्तरीय वस्त्रों की) रुकावट हटा लेने के कारण प्रासाद-स्थित मकरमुख नालों से, सुमेरुगिरि से झरते निर्झर के समान, जल बहने लगा। जलक्रीडा के प्रसंग में अंगमर्दन से टूटकर गिरे हुए आभूषण बिखरे पड़े थे। फलतः, प्रासाद का शिखर (जल बह जाने के बाद) अगस्त्य द्वारा सोखे गये समुद्र के समान दिखाई पड़ रहा था ॥१९–२७॥

मानों, नये मेघकलश के जल से प्रक्षालित होने के कारण निर्मल उस प्रासाद-शिखर पर मैं मानसहित दान से परिचारकों को परितुष्ट किया। इस प्रकार, रमणीय रात्रि के प्रथम प्रहर बीतने पर प्रिया को मनाकर मैं सुख और दुःख को अभिभूत कर लेनेवाली गाढ़ी नींद में सो गया ॥२८–२९॥

रात्रि के पुनः एक पहर बीतने पर कठोर स्पर्श से मैं जगा और तभी कन्दरा जैसे अपने मुँह को बाये हुए, अन्तर्भेदक आँखोंवाले पुरुष को देखा। मुझे कहीं ले जाने की इच्छा से आये हुए, मन्त्रशक्ति से सम्पन्न उस प्रेत का अनुमान करके मैंने भी उसे यमालय ले जाने की इच्छा की। उसके भीषण चीत्कार से त्रस्त **गन्धर्वदत्ता** की नींद न टूट जाय, इस आशंका से मैंने उसे वहाँ नहीं मारा। वह मुझे बर्फ के समान ठण्डी और काठ के समान कड़ी अपनी पीठ पर लादकर सीढ़ी के रास्ते, प्रासाद के शिखर से नीचे उतरा। निद्रान्ध होकर भूमि पर सोये हुए, कक्षा की रक्षा करनेवाले पहरेदार उसके प्रभाव से इस तरह अचेत हो गये थे कि उन्होंने उसे निकलते हुए नहीं देखा। निकलकर जैसे ही उसने मुड़कर कक्षा के द्वार को देखा, वैसे ही कपाट धीरे-धीरे अपने-आप बन्द हो गये।[1] घर से दूर निकल जाने पर (मैंने) अपने घुटनों से उसपर प्रहार किया। किन्तु, वह प्रहार केवल मेरे घुटनों की पीड़ा का कारण बनकर रह गया ॥३०—३६॥

अतिशय कुतूहल से भरा हुआ मैं जहाँ जो कुछ देखना चाहता था, वहाँ वह कुलपुत्र कुछ समय के लिए रुक जाता था। मैंने दिशा और आकाश (क्षितिज) के समान विस्तृत राजपथ पर फैलाये गये हाथियों के चमड़े देखे। (मेरे मन में जिज्ञासा हुई :) जगंल में इतने गजचर्म कहाँ से आये और किसी ने इन्हें राजपथ पर क्यों पसार रखा है? इतने में प्रासाद-पंक्तियों की खिड़कियों की जालियों से छन-छन कर आता हुआ प्रदीप का अविरल किरणपुंज राजपथ पर फैल गया। सन्देह-मुक्त होकर मैं उस प्रकाश के सहारे थोड़ी दूर

---

१. प्रस्तुत कथाप्रसंग का, 'वसुदेवहिण्डी' के चौथे 'नीलयशालम्भ' के कथाप्रसंग से बहुशः साम्य है।—सं०

गया, तभी कहीं प्रासाद में मैंने किसी कामी की बोली सुनी : 'अरे चन्द्रक ! क्यों सोये हो, जग जाओ भाई ! सुनते नहीं, उल्लू मीठी आवाज में बोल रहा है। इसे दस हजार (स्वर्णमुद्राएँ) और आभूषण दो, यह मेरे सुखदायक मित्रों में अग्रणी है।' इसके बाद सारंग (सारस), मेढक और मेघ के बन्धु मयूर ने उत्कण्ठा से भरे कण्ठ से मधुर ध्वनि की। तब क्रोध से जलते हुए कामी ने कर्कश स्वर में चन्द्रक से कहा : 'इस दुष्ट चटक (क्षति पहुँचानेवाले = मयूर) का सिर काट लो' ॥३७–४५॥

मैंने सोचा : 'यह तो निश्चय ही विरुद्ध (बात) है, फिर दोनों (चन्द्रक और चटक) के सम्मान और तिरस्कार के औचित्य का अनुमान किया—इस नागरक की पत्नी का मन परपुरुष पर आसक्त था, इसलिए एक पलंग पर सोई रहने पर भी (वह) स्वामी की ओर से मुँह मोड़कर सोई थी। भीरू स्वभाववाली नारी के लिए सहज ही भयजनक, उल्लू की आवाज सुनकर वह डर गई और घूमकर अपने पति से कसकर लिपट गई। तब उसने, जिससे पत्नी तो विरक्त थी, पर वह पत्नी से अनुरक्त था, उल्लू के डर से ही सही, (उस) पत्नी के द्वारा किये गये आलिंगन का अभिनन्दन किया। इसीलिए, उसने उल्लू को मित्र मानकर उसका सम्मान किया, जिसने उसकी विमुख पत्नी को भयभीत करके अभिमुख कर दिया। पति के प्रति उत्कण्ठा जगानेवाली मयूर की केका-ध्वनि को सुनकर वह (पत्नी) अपने पति के कण्ठ का (आलिंगन) त्याग कर पुनः विमुख हो गई। इसलिए, उस (पति) ने रोष में आकर मयूर का सिर काट लेने को कहा, जिसने केका-ध्वनि से अभिमुख पत्नी को पुनः विमुख कर दिया था ॥४६–५२॥

इसके बाद, उस प्रदेश को पार करने पर मैंने कैदखाने में पड़े मदह्विल कुलटा और विट की बातचीत सुनी : (विट :) 'मन और घ्राण के लिए मोहक गन्ध को सूँघने वाली मेरी पतली और ऊँची नाक, तुम्हारे कारण विकृत कर दी गई।' (कुलटा :) 'पहले मेरे कान कैंची की अंगूठी (गोलाकार मूठ) के समान कुण्डलों से मण्डित रहते थे, वे ही अब वैसे ही (विकृत) हो गये, जैसे तुम्हारे हैं। वही मैं तुमसे ठगी जाने के कारण ही ऐसी हो गई। हे कृतघ्न ! अब भी तुम मेरी अवज्ञा करते हो ?' ॥५३–५६॥

अब उसका पति (विट) बोला : 'अरी नन्दिनी ! क्यों मेरी निन्दा करती हो ? तुम्हारे कारण मैंने भी जो (फल) पाया है, उसे नहीं देखती हो क्या ? जिसने देवों को फूल और धूप से, पितरों को पिण्ड और जल से तथा सभी ब्राह्मणों को दक्षिणाओं से परितृप्त किया; और जिसने तलवार के बल से वैसे हाथियों की सूँड़ काट डाली, जिनकी पीठ पर सूरमा सवार थे और जिन्होंने प्रतिपक्ष के हाथियों को चूर कर दिया था; और फिर, जिसने उच्छिष्टचरित्र परस्त्रियों के पृथुल-कोमल, और पीनोन्नत चन्दनचर्चित पयोधरों का उपभोग किया, खिले हुए रक्तकमल की तरह लाल वह मेरा दाहिना हाथ शस्त्र के द्वारा, जोड़ की जगह से, उसी तरह काट दिया गया, जिस तरह टहनी से पत्ते को काटकर अलग कर दिया जाता है ॥५७–६१॥

अरी कर्कशा ! अब मेरे बाँयें पैर का पराक्रम सुनो—जिसने तीर्थस्नान के लिए आसमुद्र पृथिवी का परिक्रमण किया; अन्तःपुर के रक्षकों द्वारा खदेड़े जाने पर जिसने सहज ही ढूहों, परकोटों और खाइयों को लाँघकर पार किया है, वही यह पवन के समान गतिमान् ताम्रवर्ण, ऊँचे नखों और उँगलियोंवाला मेरा पैर जैसा हो गया है, वैसा किसका है, बताओ। अथवा, जो मन्दबुद्धि समुद्र के जल को तराजू से तौल सकता है, वही, शब्दों से, मेरे हाथ-पैर के गुणों की गिनती कर सकता है। मुझ अधीर को सर्वथा धिक्कार है, जो तुम जैसी स्त्री के सामने अपने हाथ-पैर के गुणों की प्रशंसा कर रहा हूँ' ॥६२–६६॥

इसके बाद, दूसरी जगह (जाने पर) सुनता हूँ : 'श्लोक का बड़ा ही सुन्दर चरण (कल्पना में) आ गया है, मुझे लेखनी दो, उसे जल्द लिख लूँ।' इस प्रकार, कुतूहल से युक्त मैं अनन्त वृत्तान्तोंवाली **चम्पा** को देखता हुआ, प्रेत पर सवार मैं नगर के उत्तरी द्वार पर पहुँचा।[1] मैंने सोचा : 'यह मुझे जान से मारना नहीं चाहता; क्योंकि मारने के उद्देश्य से (किसी को) उत्तर द्वार से नहीं ले जाया जाता है।' इस प्रकार सोचते हुए मैंने द्वार को पार किया और प्राचीर के भीतर से चलने लगा। इसी क्रम में अस्थिमात्रावशेष मृत बालक को देखा। बालक की चिकित्सा का अवसर देखकर मैंने सोचा : 'यह बेचारा बालक शुष्करेवती (बालग्रह-विशेष) के द्वारा शोषित होकर मरा है। यदि मैं इसे जीवित अवस्था में देखता, तो यहाँ (तन्त्रोक्त) मण्डल लिखकर, क्रूर ग्रहों की शान्ति करके इसे मरने से बचा लेता ॥६७–७२॥

अन्यत्र मैंने एक पुरुष को देखा, जो रंग-बिरंगे वस्त्राभूषणों से सजा था; किन्तु उसके प्राण निकल चुके थे। अब मेरी समझ में यह बात आई : रज्जु, शस्त्र, अग्नि जल, जरा, ज्वर, विष और क्षुधा, इनमें से किसी के द्वारा इसकी मृत्यु नहीं हुई है—फिर पता नहीं, यह कैसे मरा ? अच्छा, तो यह निश्चय ही कामी था और किसी परकीया से प्रेम करता था। सुखपूर्वक नींद ले रहा था, तभी प्यास लगने से जाग उठा। 'सुख से सोई है', ऐसा सोचकर इसने स्त्री को नहीं जगाया, अपने से, खिड़की पर रखे जलपात्र से जल लेकर पी लिया। ढक्कन हटा हुआ देखकर उस जलपात्र में, अपने विष की अग्नि के दाह से अन्धा एक साँप पहले ही प्रवेश कर चुका था। उसने उसमें अपने विष का वमन किया था, जिससे वह जल दूषित हो चुका था। अतः, उसे पीने से यह बेचारा तत्क्षण मर गया। उस परकीया की दासियों ने हड़बड़ाकर इसे प्राकार-शिखर के छेद से परिखा-तट पर डाल दिया है। यदि मरने के पहले यह दिख गया होता, तो मेरे द्वारा किये गये मन्त्र, मण्डल और मुद्रा से सम्बद्ध मौन जप से जी उठता' ॥७३–८०॥

---

१. **'कथासरित्सागर' के रचयिता सोमदेवभट्ट को अपने ग्रन्थ में 'वेतालपञ्चविंशतिः' कथाप्रसंग के समावेश की प्रेरणा बुधस्वामी के इसी सन्दर्भ से प्राप्त हुई होगी, ऐसा अनुमान असहज नहीं।—सं०**

अन्यत्र मैंने (अपने रूप से) देवकन्या को भी लज्जित करनेवाली एक स्त्री को अशोकवृक्ष की शाखा से फाँसी लगाकर लटकी हुई देखा। उसका शरीर फूल, सिन्दूर, कुंकुम और महावर से चमक रहा था और उसका विशाल जघनस्थल नीले पेटीकोट (जाँघिये) से ढका हुआ था। उसने अपने बहुमूल्य रत्नाभूषणों को, जिनसे चन्द्रिका के समान किरणें फूट रही थीं, सूक्ष्म रेशमी वस्त्र में बाँधकर निकट में ही गिरा दिया था। इसपर विचार करके मैंने (अपनी) बुद्धि से यह निश्चय किया : यह पवित्रा स्त्री अवश्य ही अपने पति की प्यारी थी। पति ने परिहास में भी इसकी अवमानना नहीं की थी। किन्तु, उस प्रमादी (पति) ने सुप्त, मत्त या पत्नी द्वारा की गई जिज्ञासा से कुपित होने की स्थिति में (इसके समक्ष) किसी अन्य स्त्री का नाम ले लिया। वज्रपात की तरह दुःख पहुँचानेवाले उस अश्रुतपूर्व वचन से अत्यन्त आहत होकर इस (स्त्री) ने ऐसा क्रूर कर्म कर डाला। ठीक ही कहा है, पुत्र और पत्नी के लिए पिता और पति के समान कोई दूसरा शत्रु नहीं होता, जो अत्यन्त स्नेहवश केवल उनका लालन ही करते हैं। अल्प बुद्धिवालों के लिए अतिशय तिरस्कार ही अच्छा, अतिशय लालन नहीं। बुद्धिमान् व्यक्ति भी अतिशय लालित होकर दुःखी होते हुए देखे जाते हैं। इसने जो अपने वस्त्राभूषणों को स्वयं भूमितल पर फेंक दिया, वह सम्भवतया चोरों के करस्पर्श से अपने शरीर को बचाने के लिए ही। किन्तु, **चम्पा** तो इस प्रकार चोरों से रहित है कि मेरु (स्वर्ण)-पर्वत से भी अधिक मूल्यवान् यह अलंकार कूड़े-कचरे-सा उपेक्षित पड़ा दीखता है ॥८१–९१॥

नगरनिवासियों के इन सब और इसी प्रकार की अन्य विचित्र चेष्टाओं को देखता हुआ मैं श्मशान में पहुँचा, जहाँ चिता की अग्नि के आलोक ने अन्धकार को दूर कर रखा था ॥९२॥

वहाँ मैंने मांस खाते और दीन एवं भीषण फेत्कार करते हुए आतंकित गीदड़ों को देखा, जिनपर कुत्ते बड़ी कर्कशता से भौंक रहे थे। कहीं शव के चारों ओर केशों को बिखराये हुए और हाथ को ऊपर उठाकर नंगा नाचते हुए डाकिनी-मण्डल को देखा। कहीं खड्ग उठाये और घड़े का खप्पड़ लिये पुरुष को देखा, जो 'महासत्त्वशालियो ! महामांस खरीदो !' इस प्रकार चिल्ला रहा था। कहीं सशस्त्र पुरुषों के समूह द्वारा चारों दिशाएँ रक्षित थीं और इसी स्थिति में मैंने इस प्रकार के बहुत-सारे वृत्तान्तों से भरे श्मशान को देखा; और फिर (वसन्त)-यात्रा में जाते समय जो वृद्धा दिखाई पड़ी थी, उसे देखा। वह बरगद के नीचे, चिता की आग में, बायें हाथ में स्रुवा लेकर हंकारान्त मन्त्र से मानवरक्त की आहुति दे रही थी। आदेशपालन करके आये हुए उस प्रेत को देखकर अतिशय हर्ष से उसकी आँखें फैल गईं और उसने (आहुति के) शेष कार्य को (शीघ्र) समाप्त किया। अर्घ्य और सत्कार देकर उस कृतकार्य (प्रेत) से वह (वृद्धा) बोली : 'चन्द्रमुख ! तुम्हारा स्वागत है, अब कुमार को छोड़ दो।' मैंने सोचा : ओह ! चन्द्रमा पर भी कठिनाई में डालनेवाली आफत आ गई ! क्योंकि, वह, इस काकमुख की

तुलना चन्द्रमा से करती है ! उस (प्रेत) ने मुझे धीरे से मुक्त कर दिया और अपनी भुजाओं तथा जंघाओं को फैलाकर, दक्षिण की ओर मुँह करके जोर से चिल्लाया और धरती पर आ पड़ा ।।९३–१०२।।

इसके बाद, मुझे आसन देकर मातंगवृद्धा बोली : " 'श्मशान में आ गया हूँ', ऐसा सोचकर मन में खेद न करें। श्मशान में भगवान् रुद्र और रुद्राणी-सहित गणेश तथा मातृदेवियों के साथ शिवगण, तीनों सन्ध्याओं में विराजमान रहते हैं। जहाँ रुद्र हैं, वहाँ विष्णुप्रभृति सभी देवगण हैं—ऐसा नहीं कि चन्द्र अन्यत्र हो और चन्द्रिका अन्यत्र ! ऐसा सुना जाता है कि मोक्ष, स्वर्ग और अर्थ की कामनावाले अनेक द्विजों ने श्मशान में सिद्धि प्राप्त की, इसलिए यह अमंगल नहीं है। जिस काम के लिए मैं आपको यहाँ लाई हूँ, उसे ध्यान से सुनें—आपके जैसे व्यक्तियों को अकारण कष्ट नहीं दिया जाता है ।।१०३–१०७।।

शत्रु को रौंद डालनेवाले मतंगज के समान तथा शरीरधारी महाबाहु (विष्णु) के सदृश मेरे पति **महासिंह** मातंगों के राजा थे। मेरा नाम **धनमती** है; मेरी जो मन्त्र-शक्ति है, उसे पिछले दिनों आप स्वयं ही जान चुके हैं। **चण्डसिंह** नामक पुत्र उत्पन्न करके **महासिंह** ने अपने जीवन को पूर्णता दी, जैसे अनन्त फलभार को उत्पन्न करके सघन पुष्पसंचय को पूर्णता प्राप्त हो जाती है। फिर, **चण्डसिंह** के **अजिनवती** नाम की पुत्री हुई, जिसके लिए देवकन्याएँ रात-दिन इर्ष्या करती हैं। हमारे साथ महासरोवर की यात्रा में जाते समय उस (अजिनवती) ने **गन्धर्वदत्ता** के साथ सवारी में बैठे हुए आपको देखा। अब उसकी ऐसी अवस्था हो गई है, जिसके किसी भी कारण का पता लगाना कठिन होता है, (यह वैसी ही अवस्था है), जैसी आप जैसे दुर्लभ व्यक्तियों के दर्शन से स्त्रियों की हो जाती है। सखियों ने अनेक बार उससे क्लेश का कारण पूछा। जब उसने नहीं बताया, तब मैंने मन्त्रशक्ति के द्वारा जान लिया। प्रार्थना के ठुकराये जाने से होनेवाले दुःख की कोई परवा नहीं करके, पौत्री के प्राणों की रक्षा करने के निमित्त, मैंने स्वयं आपका उसके लिए वरण किया। उस दीर्घायु (दत्तक) के द्वारा और आपके द्वारा भी जब मैं अपमानित हुई, तब प्रेत को साधकर मैंने आपको यहाँ बुलवाया। इसलिए, (मैं) बलपूर्वक भी आपको **अजिनवती** सौंपती हूँ—नहीं धारण करते हुए भी, देवता (भक्त द्वारा अर्पित) माला को स्वीकार तो करते ही हैं" ।।१०८–११७।।

इसके बाद उस वृद्धा ने पीछे मुड़कर, 'आओ' इस प्रकार पौत्री से कहा और वह (अजिनवती) भी वहीं अचानक उपस्थित दिखाई पड़ी। उसकी पितामही ने उससे कहा : 'चेदिनरेश और वत्सराज के दायाद (पुत्र) को मैंने मन्त्रशक्ति से वश में कर लिया है, इस वर का पाणिग्रहण करो। उसने अपने स्वेदयुक्त काँपते दाहिने हाथ से मेरे स्वेदयुक्त काँपते हाथ को ग्रहण कर लिया। उसके हाथ की कान्ति से ताम्रवर्ण, तथा परस्पर उजली और काली दृष्टियों के पड़ने से, कुंकुम की आभावाले अपने हाथ में (मैंने) वर्णसांकर्य (रंग का मिश्रण) देखा ।।११८–१२१।।

इसके बाद, वृद्धा ने मुझसे कहा : 'श्वशुर के दर्शन करें।' तब मैंने उससे कहा : 'देवि ! यह आदमी (अर्थात्, मैं) तुम्हारा वशवर्त्ती है।' तब मैंने सूर्यमण्डल के समान भास्वर एक पुरुष को देखा, जो देदीप्यमान चन्द्रकान्तमणि की अक्षमाला फेर रहा था। **धनमती** ने मुझे बताया : 'यह **गौरिमुण्ड** नामक विद्याधरनरेश हैं। महागौरी को प्रसन्न करना चाहते हैं। **व्यालक** और **अंगारक** नामक भाई इनके परिचारक हैं, जो इनके दोनों पार्श्व में, इनकी महाबलशाली भुजाओं के समान, स्थित हैं। जिसने **अमितगति** को कदम्ब से बाँध दिया था और आपने जिसे (उस बन्धन से) मुक्त किया था तथा जिसने **कुसुमालिका** का अपहरण कर लिया था, यह वही **अंगारक** है। उसी समय से **गौरिमुण्ड** अपने अनुजों के साथ आपसे द्वेष रखते हैं और अवसर पाकर आपको मार डालना चाहते हैं। फलतः, **मानसवेग, गौरिमुण्ड** आदि आपके अनन्त और महान् शत्रु होंगे। प्रमत्त, असहाय और दिव्य सामर्थ्य से रहित आपको इन विपरीत शत्रुओं से देवता, गुरु और द्विज बचायें। अतः, आपके इस सम्बन्ध का प्रयोजन केवल कन्या ही ही नहीं है; इसका एक महान् प्रयोजन है—**चण्डसिंह** को सहायक के रूप में प्राप्त करना।' मैं (नरवाहनदत्त) ने सोचा : 'एक अमितगति तो मेरा मित्र हो ही चुका, अब महाबल-शालिनी अपनी माता के साथ यह **चण्डसिंह** भी मित्र बन जाय' ॥१२२–१३१॥

मैं इस प्रकार चिन्तन कर रहा था कि चाँदनी की छटा से जगमगाता एक विमान मुझे अन्तरिक्ष में उड़ता दिखाई पड़ा ॥१३२॥

मन की तरह गतिवाले उस विमान से जाते हुए मुझे ऐसा लगता था कि मैं स्थिर ही हूँ। मैं आकाश में जा रहा था, फिर भी मुझे लगता था कि मैं जलयान से समुद्र में सन्तरण कर रहा हूँ। तदनन्तर, मैंने विमान से ही, दूर से भूमण्डल को देखा, जो लोकालोक आदि पर्यन्त विस्तृत परिमण्डल का आदर्श (मॉडेल) जैसा प्रतीत होता था। यों, यह आकाश आवरण-रहित दिखाई पड़ता है, फिर भी इसका कोई प्रदेश ऐसा नहीं था, जो विमान से आवृत न हो ॥१३३–१३५॥

विमान में सैकड़ों अप्सराओं की भीड़ रहती है, उसमें क्रीडाशैल एवं प्रमोदवन रहते हैं। निकृष्ट देव के भी विमान की लम्बाई एक योजन होती है। इस प्रकार, मैं असंख्य कान्तिमान् और महान् विमानों को आते-जाते देखता हुआ चला जा रहा था ॥१३६-१३७॥

उसके बाद मैंने किसी अज्ञात देश के किसी गिरिशिखर पर किसी दिशा में, ठाक सामने एक विस्तृत नगर देखा। उस (नगर) से आकाश को व्याप्त करता हुआ एक भास्वर विमान उड़ा, जैसे उदयाचल के शिखर से सूर्यमण्डल ऊपर उठा हो। जैसे मातंगी (अजिनवती) का शरीर हमारे शरीर के साथ सटा था, वैसे ही वह विमान हमारे विमान के साथ आ लगा। उस (विमान) से मूर्त्तिमान् तेज के समान एक व्यक्ति निकला, जिसका उन्नत शरीर कृष्णमृग की तरह साँवला था और जिसकी लम्बी, कटाक्षवाली आँखें ताम्र वर्ण

की थीं। मैंने उसे यात्रा-महोत्सव में देखा था। उसे पहचान कर **धनमती** ने मुझसे कहा : '**चण्डसिंह** की वन्दना कीजिए' ।।१३८–१४२।।

आनन्दजन्य स्वेद से सने और कर्कश रहने पर भी स्नेह से गीले, पुलकित अंगों से उसने मेरे अंगों का आलिंगन किया। फिर, दूर हटकर अपने उन्नत सिर को झुकाकर 'विद्याधरपति देव की जय हो' ऐसा बोलते हुए उसने मुझसे कहा : 'हम सेवकों का आप स्वामी के प्रति ऐसा व्यवहार—भृत्यों के द्वारा स्वामियों का आलिंगन—बहुत बड़ा अपमान है। अल्पवयस्क होने पर भी आप जैसे जामाता की अवमानना नहीं करनी चाहिए। आप जैसों के रूप में कोई महान् देवता ही प्रतिष्ठित रहते हैं' ।।१४३–१४६।।

(चण्डसिंह) मुझसे यह सब कुछ अनेक प्रकार से जबतक कह रहा था कि तभी **चण्डसिंह** के नगर में विशाल उत्सव का उल्लास छा गया। उस (नगर) का वर्णन क्या किया जाय, जहाँ के विशाल राजपथ की भूमि इन्द्राणी के जघनस्थल के योग्य महारत्नों (करधनी आदि आभूषणों) से जगमगा रही थी। इसी से, अवश्य ही अलंकरणीय परिखा, शाला, प्रासाद और देवालयों की रमणीयता संकेतित होती थी। उस नगर का वर्णन कहाँ तक किया जाय, जहाँ बच्चे सहज ही हँसमुख थे और वे अपनी माँ से स्तन का दूध भी नहीं माँगते थे ! उस नगर का कितना वर्णन किया जाय, जहाँ गोपाल के पुत्रों ने भी कलाओं के साथ सभी विद्याओं का वर्णमाला की तरह (सहज ही) अभ्यास कर लिया था। उस (नगर) का वर्णन कैसे किया जाय, जहाँ की प्रासादसंकुल सड़कें केवल योगियों के लिए ही बाधक नहीं बनतीं। जिस दोष से मोक्षकामी मनुष्य संसार से परित्रस्त होते हैं, वहाँ **कपिल** आदि मोक्षशास्त्रों में उसी (संसार) का विधान करते हैं। दूषित संसार और वस्तुदोष से जो दूषित नहीं हुआ है, उस निष्कलुष गुणवाले से बढ़कर रमणीय भला क्या होगा ? ऐसा नहीं है कि केवल **चण्डसिंह** के नगर की ही प्रशंसा की जाती है, अन्य सिद्धों की पुरी भी ऐसी ही अथवा इससे बढ़कर भी है ।।१४७–१५५।।

उस देव-विमान के भूमिष्ठ होने पर मैं उससे उतरा और अपनी शोभा से देवमन्दिर का भी उपहास करनेवाले कन्या-मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ परिजनों ने देवोचित ढंग से मेरी परिचर्या की। इसी समय किसी कारण से माँ ने **अजिनवती** को बुलाया और वह चली गई। जब वह (अजिनवती) उस रात्रि के शेष भाग में और फिर दूसरे दिन और रात में भी नहीं आई, तब मुझ त्वरातुर के मन में यह विचार उठा : दर्शन, स्मित, सम्भाषण, स्पर्श, आलिंगन आदि से पूर्णतः या अंशतः प्रियाएँ अपने प्रियतमों को रमाती हैं। किरणों के साथ चन्द्रलेखा की भाँति वह उन सब (स्वजन-परिजन) के साथ चली गई और मैं यहाँ दुःख से सन्तप्त हृदय लिये बैठा हूँ, यह सब क्या है और ऐसा कैसे हो रहा है, इत्यादि अनेक प्रकार से सोचते हुए मैंने देखा कि अन्तःपुर-सहित सम्पूर्ण नगर विवाह-विघ्न से व्याकुल हो रहा है ।।१५६–१६१।।

मैंने सोचा : ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात में, जब चन्द्रमा आर्द्रा नक्षत्र में था, प्रेत मुझे **चम्पा** से ले आया था। अवश्य ही, आषाढ शुक्ल के प्रारम्भ में, पंचमी

तिथि और उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में राजा हम दोनों (नरवाहनदत्त-अजिनवती) का यह विवाह कराने जा रहे हैं। यह राजा महाकुलीन और श्रुतिस्मृतिविशारद हैं। अतएव, ब्राह्म विवाह से (अपनी) पुत्री का संस्कार करना चाहते हैं ॥१६२–१६४॥

अग्नि के समान (दाहक) चार कष्टमय दिनों को झेलकर अन्त में मैंने अभीप्सित तपःसिद्धि के समान उस कन्या को प्राप्त किया। उसके साथ मेरी वह रमणीय वर्षाऋतु, जो बरसनेवाले घने बादलों के समूह से काली थी और जिसमें चन्द्रमा का बिम्ब कभी दिखाई नहीं पड़ा, अमावास्या की एक रात के समान बीत गई ॥१६५-१६६॥

एक दिन अपनी सखियों से घिरी वह (अजिनवती सहसा) सिसकने लगी, (तब) मैंने उससे पूछा : 'राजा सकुशल तो हैं ?' तब, उसके द्वारा मना किये जाने पर भी **मेघराजिका** नाम की बालिका ने कहना शुरू किया : "स्वामिपुत्र ! सुनें। एक बार **विकचिक** नाम का स्वच्छन्दचारी, अधम विद्याधर, अपराधी होने के कारण, अपने परिजनों से परित्यक्त होकर कुछ समय के लिए यहाँ रहा था। कन्या को तो सभी देख सकते हैं, इसलिए एक बार उस विद्याधर ने स्वामिपुत्री (अजिनवती) को पिता की गोद में बैठी हुई देखकर राजा से कहा : 'यदि यह पुत्री आपकी है, तो इसे मेरे लिए प्रदान करें, मेरे गुणों को तो आप जानते ही हैं।' उस (राजा) ने कहा : 'कौन नहीं जानता है, आपके गुण तो प्रसिद्ध ही हैं। किन्तु, अभी तो यह नन्हीं-सी है, जरा प्रौढ तो हो जाय।' राजा को सूचना देकर स्वदेश जाते हुए उस (विद्याधर) ने नगर के स्त्रियों, बच्चों और गोपालों को भी यह (राजा और उसके बीच सम्पन्न) वार्त्तालाप सुना दिया : "राजा ने सम्मानपूर्वक, 'सौभाग्य से आज आपकी वृद्धि मेरी ही वृद्धि हो (बन) रही है', ऐसा कहते हुए, मुझे अपनी पुत्री अजिनवती प्रदान की है" ॥१६७–१७४॥

स्वामिपुत्री, स्वामिपुत्र (आप) की पत्नी बन गई, यह सुनकर उस कृतघ्न ने निर्लज्ज होकर क्रोधपूर्वक राजा से कहा है कि 'आप सदाचाराभिमानी का यह कौन-सा आचार है—(पहले) मुझे कन्या देकर फिर (उसे आपने) दूसरे को दे दी ! लज्जा से नहीं डरनेवाले आपको उपालम्भ देना व्यर्थ है। चाहे तो पुत्री दें या न्यायालय में चलें या मेरे साथ युद्ध करें।' राजा ने हँसकर कहा : 'न तुम युद्ध के योग्य हो, न ही पुत्री के। तुम दीर्घायु प्राप्त करने के योग्य हो, इसलिए न्यायालय में जाने की अनुमति देता हूँ ॥१७५–१७८॥

उससे ऐसा कहकर वे (राजा) अपनी माता और मन्त्रियों के साथ **सप्तपर्णपुर** में **वायुमुक्त** महाध्यक्ष के पास गये हैं। यदि रुचि हो, तो आप दोनों भी दिशा और आकाश को सुशोभित करते हुए रोहिणी और चन्द्रमा की तरह साथ-साथ वहीं जायँ।" मैंने (अजिनवती को आश्वस्त करते हुए) कहा : 'हे भीरु ! भय मत करो, हे किन्नरकण्ठी ! रोओ मत। **मेघराजी** ने जैसा कहा है, अर्थात् वस्तुस्थिति यही है तो, उस अधीर की पराजय निश्चित है ॥१७९–१८१॥

इस प्रकार, परित्रास-रूपी हिमपात से मुरझाये हुए उसके मुखकमल को सान्त्वना-रूपी बालातप के स्पर्श से मैंने विकसित कर दिया। उसके बाद, उसने मेरा हाथ पकड़ा और आकाशमार्ग से चलकर वह **सप्तपर्णपुर** के नगरोद्यान में उतरी। फिर, बिना किसी व्यग्रता के उसने कहा : 'एक क्षण आप यहाँ बैठें, जबतक मैं सखी से मिलकर और गुरुजनों की वन्दना करके आती हूँ ।।१८२–१८४।।

उसके उड़कर चले जाने पर, उद्यान में संचरण करते हुए मैंने बड़े मोती के रंग के सप्तवर्ण (छतिवन) के फूलों को देखा। उन (फूलों) से मैंने कदली के महीन तन्तुओं द्वारा एक हार गूँथ लिया, जो बन्धूक (ओड़हुल) के फूल से चमकदार था और जिसके मध्यभाग में नीलकमल जड़ा था। पद्मराग, इन्द्रनील आदि अनेक रत्न-पत्थरों की प्रभावाले फूलों से मैंने वलय, नूपुर और मेखला भी बनाई ।।१८५–१८७।।

तदनन्तर, 'वह दुरात्मा (विकचिक न्यायालय में) पराजित हो गया', (इस समाचार से) हर्षित मनवाली उस प्रियवादिनी प्रिया (अजिनवती) ने आकाश से उतरकर मुझे भी हर्षित किया। जब मैंने पूछा, 'कैसे?' तब वह आदरपूर्वक बोली : 'विवक्षा रखते हुए भी बोलनेवाले (मूल) प्रश्न को भूल जाते हैं—**वायुमुक्त** (न्यायालय के महाध्यक्ष) के पास से जाकर मैंने अन्तःपुर की स्त्रियों से वन्दित कन्या के अन्तःपुर में रहनेवाली सखी **वायुमुक्ता** से मिली। वहाँ क्षणभर बैठी ही थी कि मैं (अजिनवती) ने बादलों के गर्जन को परास्त करनेवाली, भयंकर आवाज से युक्त दुन्दुभी को बजते हुए सुना ।।१८८–१९१।।

हलचल से मेरे कान खड़े हो गये और मैंने अपनी सखी से पूछा : 'यह क्या है?' सखी ने अपनी दासी से कहा कि 'जाओ और पता लगाओ।' (दासी) क्षणभर में वापस आ गई—वह हाँफ रही थी और उसके स्तन काँप रहे थे। 'देवी! सौभाग्य से तुम्हारी संवृद्धि हुई है', ऐसा कहती हुई वह पुनः बोली : '**विकचिक** ने सभा में जाकर यह दुन्दुभी बजाई है। फलतः, **वायुमुक्त**, **अक्ष** और **दर्श** ये सभासद आ पहुँचे। उन्होंने उससे कहा : 'तुमने यह दुन्दुभी क्यों बजाई?' आर्यवेश में (आया हुआ) वह (विकचिक) आसन छोड़कर खड़ा हुआ और उनके समक्ष बोला : '**चण्डसिंह** ने पुरजनों के समक्ष अपनी कन्या मुझे देकर पुनः उसका पाणिग्रहण किसी अन्य से करा दिया—इस सम्बन्ध में नागर (चण्डसिंह) से पूछा जाय।' 'कहिए', ऐसा जब सभासदों ने कहा, तब (मेरे) पिता ने, **मेघराजी** ने जैसा कहा था, वैसा ही कहा और यह भी कहा कि मेरे जिन पुरवासियों को इसने साक्षी बनाया है, उन्हें भी पूछ लिया जाय, मैं उनके द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के विरुद्ध नहीं होऊँगा' ।।१९२–१९८।।

(वादी-प्रतिवादी दोनों पक्षों के बयान सुन लेने के बाद) सभासदों से विचार-विमर्श करके (न्यायसभाध्यक्ष) **वायुमुक्त** ने कहा : 'मनुकल्प इस राजा की क्या परीक्षा की जाय? जिज्ञासा और संशय का उच्छेद करनेवाले प्रामाण्य (साक्ष्य) के अधिपति प्रत्यक्ष की प्रमाणता अनुमान से सिद्ध नहीं की जाती। अतः, प्रतिवादी राजा से व्यवहार में पराजित वादी **विकचिक** (अपने लिए) कोई दूसरी कन्या ढूँढ़े।' इस निर्णय से **विकचिक**

क्रुद्ध होकर झट सभा से उठ खड़ा हुआ और आकाशमार्ग से जाता हुआ, सभासदों से चिल्लाकर बोला : 'इन पक्षपाती, जड और दुष्ट चण्डालों को धिक्कार है। करने योग्य कर्त्तव्य के लिए मैं (स्वयं) ही कुशल हूँ' ॥१९९-२०३॥

मेरा (नरवाहनदत्त का) मन सचमुच ही आशंका से कलुषित हो गया—मैं सोचने लगा, 'किस करणीय कार्य में भला वह अपने को बुद्धिमान् मानता है।' उसके बाद मैंने शरत्कालीन फूलों से निर्मित मालाओं और आभूषणों से उस (अजिनवती) को अलंकृत किया और (इस प्रकार अपने) शरीर से शरद् ऋतु के रूप को चुरानेवाली उससे यह कहा : 'हे सुभगांगी ! इस सुखद समाचार से प्रसन्न होकर मैंने जो हड़बड़ी में तैयार किये गये आभरण तुम्हारे अंगों में पहनाये हैं, वे बड़े सुन्दर लग रहे हैं।' इसपर उन अलंकारों से द्वेष करती हुई, मानों वे काँटे हों, वह अपने अंगों को धुनती हुई, ईर्ष्याजनित मन्द हँसी के साथ मुझसे बोली : 'आपने अन्य पत्नियों को भी ऐसे आभरण पहनाये हैं, बिना अभ्यास के ऐसी क्रियाकुशलता नहीं देखी गई है। इसलिए, निर्माल्य-[1] तुल्य इन आभूषणों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है—ऐसी कौन (स्त्री) होगी, जो धूर्त्तों से अपनी आत्मा को अपमानित करायगी ?' ॥२०४–२०९॥

मैंने सोचा : 'इसका यह विपरीत व्यवहार तो अपूर्व है; पैर पड़ने, कसम खाने आदि उपायों से भी इसे मनाना कठिन है। किन्तु, नारी तो अन्तःकरण से दुर्बल होने के कारण तरंगमाला के समान चंचल होती है और प्रतिकूल दिशा में जानेवाली नौका के समान, वह कुशल व्यक्तियों (नाविकों) द्वारा शीघ्र ही (अनुकूल दिशा में) मोड़ ली जाती है।' मैंने कहा : 'पत्नी के सगे-सम्बन्धियों के घर अधिक दिनों तक रहना दुर्भाग्य का कारण है, यदि विश्वास न हो, तो अपने पति को ही क्यों नहीं देखती हो ? तुम्हारे चाटुकार पति ने पत्नी को प्रसन्न करने के क्रम में मूर्खतावश वही कर डाला, जिससे पत्नी ही रुष्ट हो गई। अभागा व्यक्ति जो भी सौभाग्यजनक कार्य करता है, दुर्भाग्य की ही वृद्धि होती है। होनेवाले पुत्रों को भी मैं बिलकुल मना कर दूँगा कि मेरे पुत्र पत्नी के सगे-सम्बन्धियों के साथ दीर्घकाल तक न रहें।' इतना कहते ही वह मेरा मुँह देखने लगी और रूखी हँसी के साथ बोली : 'हाय, हाय ! यह आप क्या कह रहे हैं ?' अब आगे इस प्रपंच (को बढ़ाना) अनुचित है, ऐसा सोचकर मैंने काँपते अंगोंवाली उस अंगना (अजिनवती) को आलिंगन में भरकर गोद में बैठा लिया ॥२१०–२१७॥

इस प्रकार, वह आश्वस्ति पाकर बावली के घाट पर खड़ी थी कि आतुर होकर जोर से बोली : 'स्वामिपुत्र ! कृपा कीजिए।' तभी मैंने उस अधम विद्याधर (विकचिक)

---

१. किसी देवता को समर्पित किया हुआ पदार्थ। देव-विसर्जन के बाद देवार्पित वस्तुओं को 'निर्माल्य' कहा जाता है। तन्त्र और आगम-ग्रन्थों में शिवनिर्माल्य ग्रहण करने का निषेध है। कथाकार बुधस्वामी ने इसी तन्त्राचार की ओर संकेत किया है।—सं०

को अन्तरिक्ष में अवस्थित देखा। उसके चारों ओर चमकते हुए विशाल खड्ग का किरण-मण्डल व्याप्त था। रोष से भयंकर गर्जन करता हुआ वह बोला : 'अरे धरणीचर ! तुम्हारे सामने ही इस स्त्री का अपहरण करता हूँ, बचाओ' ॥२१८–२२०॥

क्रोध के कारण मेरा धैर्य जाता रहा और कथ्याकथ्य का विवेचन किये बिना अपने बल को तौलते हुए मैंने उसकी इस प्रकार भर्त्सना की : "अरे नीच ! 'मैं आकाशचारी हूँ', ऐसा समझकर तुम क्यों डींग हाँक रहे हो ? कौआ भी तो आकाशचारी होता है, फिर भी वह अपनी नीचता नहीं छोड़ता। कौआ यदि सिंह के सिर पर पैर रखकर, उड़ जाय, तो इससे धरणीचर केसरी पराभूत नहीं हो जाता।" इस प्रकार, उत्तेजित किये जाने पर भी वह धरती पर नहीं उतरा और चारों ओर चकित होकर देखता हुआ अवज्ञापूर्वक बोला : 'तुम्हारे जैसे स्थल-कच्छप के प्रति क्रुद्ध होकर मेरे जैसा गरुड के समान पराक्रमी व्यक्ति भला किस पाप से लिप्त नहीं होगा ?' ऐसा कहकर बाज के समान वह अधम विद्याधर करुण क्रन्दन करती हुई श्यामा पक्षी-रूपी (अजिनवती) को लेकर आकाश में उड़ गया ॥२२१–२२६॥

इसके बाद, मैंने महाज्वाला की लपटों से आकाश को ढका हुआ देखा, साथ ही यह भी देखा कि उत्पात करनेवाली अशुभ उल्का के समान देवी (अजिनवती) गिर रही है। मैंने प्रचण्ड विद्याधरों की सेना से घिरे हुए राजा (चण्डसिंह) को देखा, मानों गणों और देवताओं से घिरा क्रुद्ध महाकाल हो। ऊपर देखता हुआ मैं भी चण्डसिंह के पीछे-पीछे चल पड़ा। किन्तु, दिग्भ्रम के कारण मेरी स्मृति लुप्त हो गई और मैं कहीं अन्यत्र ही चला गया ॥२२७–२२९॥

ऊबड़-खाबड़ भूमि पर उगे पेड़ों और घनी जंगल-झाड़ियों में भटकता, थका-माँदा मैंने बहुत देर के बाद ऊँची और गम्भीर उच्चारण की ध्वनि इस प्रकार से सुनी : 'हे कालाक्षि, हे कालाक्षि ! गंगे ! गंगे ! महि !' पुनः मैंने सवत्सा और अवत्सा गायों के रँभाने की मनोरम ध्वनि सुनी। मैं तेजी से उस ओर गया (और वहाँ) मैंने हाथ में लाठी लिये हुए (गो)पाल को आगे देखा। कुलथी के रंग की स्थूल रोमराजि से युक्त उसकी जाँघें और घुटने विशाल थे। उसकी भुजाएँ मल्लों से मुकाबला करने को उद्यत-सी थीं और उसकी गरदन और कन्धे ऊँचे तने हुए थे। उसके कानों पर (निरन्तर पड़नेवाले) जोरदार थप्पड़ों की चोट से कठोर घट्ठे पड़ गये थे। सतत गायों द्वारा सम्मानित उससे मैंने शान्त भाव से कहा : 'मैं जंगल में रास्ता भूल गया हूँ, तुम मुझे रास्ता बतलाओ।' उसने कहा : 'रात गोकुल में बिताकर थकान मिटाइए, सुबह में अपना रास्ता देखिएगा। तो (अभी) हम, अपने घर चलें' ॥२३०–२३५॥

उसके साथ जाकर (मैंने) गोकुल के पास ही ग्वालों की बस्ती देखी, जहाँ (दधि-) मन्थन की ध्वनि हो रही थी, जिसने मन्दराचल से आस्फालित समुद्र की ध्वनि को भी तुच्छ कर रखा था। और, जहाँ कूटकर या पत्थर बैठाकर बनाये गये फर्श के बिना ही आँगन और कुटी की भूमि समतल थी, जो हरे गोबर से लिपे होने के कारण फैले हुए मानस सरोवर की भाँति लग रही थी। और, उस पर्णशाला के आँगन में गिरे हुए ओड़हुल के फूलों

और आम की मंजरियों से आभीर-रमणियों के (सुन्दर) कर और अधर मलिन नहीं पड़ते थे; और जहाँ कुटी के छप्पर पर छाई हुई लौकी की लताओं की कलिका-रूपी उँगलियों से डाँटी गई कमलिनियाँ भी लज्जित हो रही थीं; जिस कुटी में धूल और कूड़े-कचरे बड़ी मुश्किल से दिखाई पड़ते थे, जिस गोपबस्ती की सड़कें सर्वथा अनिन्दनीय थीं और उनपर उद्दाम बछड़े कूद रहे थे; जहाँ कर्णिकार के फूल की भाँति निर्मल अंगों और पृथुल जघनस्थलों से स्त्रियों का वैसा वह मलिन वेश भी सुसज्जित लगता था। जहाँ वन के गोकुल में पलने-बढ़ने के कारण ग्वाले गायों के समान सरल थे और व्यवहारकुशल गोपियाँ नटियों (अभिनेत्रियों) से भी बाजी मार रही थीं ॥२३६–२४२॥

इस प्रकार की गोपबस्ती ने जब मेरा मन चुरा लिया था, तभी उस गोप ने मुझे अपने घर ले जाकर, प्रसन्नतापूर्वक अपनी पत्नी को पुकारा। उसने कहा : 'ओ सुदेव की पुत्री ! कहाँ हो ? अरी गोपालबालिके ! तुम्हारे घर देव आये हुए हैं, भक्तिपूर्वक इनकी आराधना करो।' तब, वह गौरवर्ण की स्त्री, मेघखण्ड से चन्द्रमा की कला के समान सूक्ष्म किरणें बिखेरती हुई, घर से निकली। लकड़ी, दाँत और पत्थर की प्रतिमाओं को हम रहने दें, मोम से भी उस (स्त्री) की प्रतिमा रचने में ब्रह्मा समर्थ नहीं हो सकते थे। भावी और वर्त्तमान कवियों को उदाहृत करने से क्या, वाल्मीकि और व्यास भी उसका वर्णन नहीं कर सकते थे। गोमय-पीठ पर बैठाकर, बहन के समान स्वच्छ मन से, उसने बड़ी देर तक, बिना थके, सिर से पैर तक मेरी मालिश की। उसने जो-जो तुच्छ भी उपचार मेरे लिए किया, उन सबको मैं, शालीनता के नष्ट होने की आशंका से, सहता गया ॥२४३—२४६॥

काँसे के पात्र में जल लेकर उसने मेरे चरण धोये; सिर और अन्य अंगों में उसने प्रसन्नतापूर्वक मक्खन मला; फिर अनाज के दाने को पीसकर बनाई गई लुगदी को उबटन की तरह लगाया; गीले माथे में लोध, धतूरा और मोथा रगड़-रगड़कर मुझे स्नान कराया। फिर, अल्प अन्नवाला गोरसबहुल पवित्र भोजन करके मद्यपायी मैंने अपने को पापमुक्त समझा। उस ग्वाले ने वल्कल और पल्लव से मेरे लिए शय्या तैयार की और 'यह आपका ही घर है', ऐसा मुझसे कहकर वह कन्धे पर भार लिये हुए गोकुल चला गया। मैंने सोचा : 'यह ग्वाला, ऐसा लगता है, राग आदि बन्धन से मुक्त हो चुका है, अन्यथा सांसारिक क्लेशों (राग आदि) से युक्त व्यक्ति भला अपनी पत्नी पर या (किसी) पराये व्यक्ति पर कैसे विश्वास कर सकता है ? स्त्री (या मादा) के प्रति समान भाव रखनेवाले, ईर्ष्या से क्षुब्ध चित्तवाले पशु-पक्षियों में भी (मादा जाति के लिए) प्राणान्तक युद्ध होते देखा जाता है। यह (ग्वाला) मुनियों के मन को भी लुभानेवाली अपनी प्रिय पत्नी को मुझे सौंपकर जा रहा है, इससे स्पष्ट है कि यह (ग्वाला) नरपुंगव (या बैल) है। अथवा, जो अकुशल हैं और जिनके कुटुम्बी बाहर रहकर वृत्ति (अर्जित) करते हैं और जिनके परिवार में नारियों का शासन चलता है, उनके आचार की परीक्षा करना ही व्यर्थ है। धोबी, कलवार, ग्वाला, माली और नटों की स्त्रियाँ जो शिष्ट देखी जाती हैं, वह उनका भोलापन या अबोधता ही है (शिष्टता नहीं)। यह ग्वाले की स्त्री है, रूपवती है, तरुणी

भी है, फिर भी इस प्रकार गम्भीर धैर्यवाली है ! दूसरों की चित्तवृत्ति दुर्बोध होती है।' कार्य को निष्फल बनानेवाली इस प्रकार की चिन्ता करते हुए मेरे लिए वह रात्रि उपकारिणी सिद्ध हुई—तत्काल प्रिया की गलबाँहीं से बिछुड़ने का दुःख, निकट रहकर चित्त से जो सह्य नहीं होता, उसे मैंने सह लिया ।।२५०–२६०।।

प्रातःकाल वह गोप कृपालु तत्त्वज्ञ की भाँति शीघ्र ही मुझे संसार-रूपी उस घोर जंगल के पार ले आया और बोला : 'ऊँचे-ऊँचे पुराने बाँसों के जंगलों से भरा यह आपका **सम्भवग्राम** है, जिसके हल से जुते हुए सीमावर्त्ती क्षेत्र बीहड़ दिखाई पड़ते हैं। यहाँ विश्राम करके अपने अभीष्ट देशान्तर को जायँ।' यह कहकर वह मुझे कृतज्ञता के पाश में बाँधकर लौट गया ।।२६१–२६३।।

शरत्कालीन (तीखी) धूप से त्राण देनेवाली ईख की घनी छाया का आश्रय लेता हुआ, सूरज की गरमी से सन्तप्त मैं चल रहा था। कहीं खिले कुमुदों के उपवनवाली पुष्करिणी की, जो गरमी के अन्त में असंख्य खिले हुए फूलोंवाली घाटी की भूमि जैसी लगती थी, प्रशंसा करता हुआ; कहीं धान की बालियों से भरे धनखेतों तथा चातक पक्षियों की भीड़ से भरे तलैयों को कुतूहलपूर्वक देखता हुआ; कहीं मानों उमड़ी हुई कालिन्दी नदी के जल से भरे, हंस-रूपी द्विजों से सेवित सरोवरों से आँखों को तृप्त करता हुआ; कहीं गंगा के पुलिन की भाँति जीव-जन्तुओं और पशुओं के चलने से बने पदचिह्नों से अंकित, कोमल और उजली धूल से परिपूर्ण, कृषिभूमि से आकृष्ट होता हुआ मैं इस प्रकार की शारदीय कान्ति में अपनी प्रिया को भूला हुआ चला जा रहा था, तभी मैंने गाँव से अपनी ओर आते हुए एक पुरुष को देखा ।।२६४–२६९।।

मुझे बहुत देर तक देखकर, विस्मय के साथ वह बोला : 'आश्चर्य, आप तो बिलकुल आर्यकनिष्ठ के समान हैं!' मेरे मन में यह बात आई कि, निस्सन्देह, इसने **गोमुख** को देखा है, उसके अतिरिक्त पृथ्वी पर कोई दूसरा तो मेरे समान नहीं है। मैंने उस (पुरुष) से पूछा : 'अरे भाई ! तुम्हारा वह आर्यकनिष्ठ कहाँ रहता है और किस प्रकार के विनोद में अपने दिन बिताता है?' तब, उसने कहा : "इसी गाँव में **प्रसन्नक** नामक एक प्रियवादी ब्राह्मण गृहस्थ रहता है, जिसका धन सर्वसाधारण के उपयोग के लिए ही है। एक दिन ब्रह्मसभा में उपस्थित ब्राह्मण (गोमुख) से उस गृहपति ने पूछा : 'आप किस देश से और किस उद्देश्य से आये हैं?' उस आगन्तुक ब्राह्मण (गोमुख) ने उत्तर दिया : 'हम दो ब्राह्मण-भाई **अवन्ती** देश से आये हैं; किन्तु, मेरा बड़ा भाई (नरवाहनदत्त) यात्रा के क्रम में दूसरी ओर चला गया। उसे ढूँढ़ता हुआ मैं इस गाँव में (इस आशा से) आया हूँ कि यहाँ सभी छात्रों का समागम होनेवाला है' ।।२७०–२७६।।

उसके ऐसा कहने पर उस ब्राह्मण गृहपति ने कहा : 'सम्पत्ति-सहित यह घर आपका है, यहाँ जिस-जिस वस्तु की आपको आवश्यकता हो, वह सब ग्रहण करें।' स्वभावतः, क्षमाशील होते हुए भी वह उस गृहपति के घर में दुर्वासा की तरह रहता है और (गृहपति के) आतंकित भृत्य उसकी सेवा में लगे रहते हैं। हलवाहा होने के कारण

मैं नहीं जानता कि वह किन शास्त्रों का ज्ञाता है, फिर भी जितना जानता हूँ, उतना ही आपसे कहता हूँ। जिन्होंने सम्पूर्ण आगमों को प्राप्त नहीं किया है, उन छात्रों के विषय में क्या कहा जाय, आचार्य भी विद्याओं में उसकी छात्रता स्वीकार कर चुके हैं। उन (आचार्यों) ने यह भी कहा है : हमारे जैसे (विद्याभ्यास में) आत्मा को व्यर्थ पीडित करनेवालों का क्या कहना, विश्वकर्मा हों या ब्रह्मा, सबने इसकी उपासना की है।' इन्हीं सब विनोदों में अपने दिन बिताता हुआ वह (अपने) आर्यज्येष्ठ की उसी प्रकार प्रतीक्षा कर रहा है, जिस प्रकार चातक उत्कण्ठ-भाव से प्रत्येक दिशा में मेघ की प्रतीक्षा करता है। यदि आप ही आर्यज्येष्ठ हैं, तो शीघ्र बतलाइए, जिससे गाँव में सहसा अकालकौमुदी (असमय में शारदीय महोत्सव) अँगड़ाई ले उठे" ॥२७६–२८३॥

मैंने कहा : 'हाँ भाई, मैं वही हूँ।' इसपर अपनी चोटी फहराता हुआ वह वेग से गाँव की ओर भागा। उसके द्वारा उछाले गये (इस समाचार से) सहसा गाँव में, आपस में मिली हुई तालियों के स्वर से व्याप्त, आतंकविह्वल सन्तोष का निर्घोष होने लगा। उसके बाद प्रसन्नमुख **गोमुख** गाँव से निकलकर आया और दूर से ही मेरे पैरों पर दण्डवत् आ गिरा। बच्चों, बेटों, स्त्रियों तथा प्रियजनों के आलिंगन से भी वैसी प्रीति उत्पन्न नहीं होती, जैसी प्रीति मुझे मेरे उस मित्र ने दी। पास में ही (खड़े) किसी ने प्रसन्नवदन **प्रसन्नक** का परिचय दिया; मैंने उसका आलिंगन किया और उसके साथ **सम्भवग्राम** में आ गया। उभेटी[1] (अनुमानतः झोपड़ियों), कूट (दरवाजों), पटल (छतों) और प्रासादों पर स्थित ग्रामीण जनता (ग्राम की ओर) जाते हुए मेरी ओर उँगलियों से निर्देश कर रही थी। **प्रसन्नक** के घर में (उसके) प्रसन्न अनुचरवर्ग द्वारा सुखद सत्कार से सम्मानित मैंने पूरा दिन क्षणभर में ही बिता दिया। शयनगृह में बैठे मुझसे **गोमुख** ने पूछा : 'आपने इतने दिन किस प्रकार बिताये?' मैंने (प्रारम्भ से) ग्वालों की बस्ती में ठहरने तक का सारा आत्मवृत्तान्त कह सुनाया। उसके बारे में पूछे जाने पर विस्तारप्रिय **गोमुख** अपना वृत्तान्त कहने लगा : ॥२८४–२९२॥

"प्रातःकाल जब मैं अपने घर से (निकलकर) आपकी सेवा में उपस्थित हुआ, तब (आकाश में) सूरज की लाली छा जाने पर भी (आपको मैंने) जगा हुआ नहीं देखा। मैंने घबड़ाकर (आपके पास) दासी को भेजा। 'हाय! यह तो सूना पड़ा है', ऐसा कहती और रोती हुई वह वासगृह से बाहर निकली। उसके बाद तो वत्सदेश-सहित सारी कौशाम्बी क्रन्दन की ध्वनि से भर गई; विन्ध्य पर्वत, आकाश और दिशाएँ भी मानों पीडित होकर भयंकर रूप से चीखने लगे। तभी, तालियाँ बजाकर, 'डरो मत', ऐसा कहते हुए **आदित्यशर्मा** ने सिद्धादेश (भविष्यवाणी) करके लोगों को (रोने से) मना किया। उसने राजा से कहा : 'विषाद करना व्यर्थ है, केवल अदृश्य हो जाने से ही सूर्य

---

१. **बुधस्वामी द्वारा प्रयुक्त 'उभेटी' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका समीचीन अर्थ विचारणीय है।—सं०**

की च्युति का अनुमान नहीं किया जाता। ब्रह्मजाति की भाँति अवध्य तथा रक्षा में समर्थ **वेगवती** जिसकी रक्षा करने में तत्पर है, वह भला दुःस्थिति को कैसे प्राप्त होगा? अथवा, आप सभी उठें, स्नान और हवन करें, भोजन करें और गायें-बजायें और कुमार-सम्बन्धी परवर्त्ती समाचारों की उपलब्धि के लिए आकाश की ओर देखते रहें।' यह (आदित्यशर्मा की बात) सुनकर भी किसी को भोजन में रुचि नहीं थी — उत्कण्ठ व्यक्ति को उत्कण्ठा के विषय के अतिरिक्त और भला क्या रुचता है? ॥२९३–३००॥

मुँह ऊपर उठाकर आकाश में चारों ओर देखते हुए पुरजनों ने पूर्वदिशा में बादल के छोटे-से टुकड़े के आकार की कुछ चीज देखी। 'यह क्या है?' पुरजनों का यह वाक्य जबतक समाप्त होता, तभी मैंने पास ही, अपने सामने, अन्तरिक्ष में स्थित **अमितगति** को देखा। फेंके गये बाण के गिरने में जितना समय लगता है, उतने ही समय के बाद (यानी, तुरत बाद), मैंने वधूवेष में विभूषित देवी **वेगवती** को अन्तःपुर की ओर जाते देखा। मैंने राजा से निवेदन किया: 'देव! प्रज्ञप्ति (विद्या) के कोषाध्यक्ष **अमितगति** सौभाग्य से पधारे हैं, प्रीतिपूर्वक इनका सम्मान किया जाय।' उन्होंने मेरे कान में कहा: 'मनुष्य होकर मैं इस विद्याधर का सम्मान किस प्रकार करूँ?' तब मैंने कहा: 'जिस दृष्टि से आप **हरिशिख** आदि को देखते हैं, उसी दृष्टि से पूर्ण आश्वस्त होकर **अमितगति** को भी देखें।' 'आओ तात! आओ', इस प्रकार बुलाया गया वह आया (और राजा ने) भुजाओं को फैलाकर विनम्रता से झुके हुए उसकी पीठ और माथे का स्पर्श किया। तब वह मुड़कर दूर हट गया और (राजा) को प्रणाम किया। राजा ने उसे फिर बुलाया और उनका आदेश पाकर वह (सिंहासन से) नीचे स्थित आसन पर जा बैठा ॥३०१–३०८॥

क्षणभर बैठकर जब वह खेदरहित हुआ, तब राजा ने उससे कहा: 'अपने भ्राता (राजकुमार) का वृत्तान्त कहो!' तब, उसने कहा: 'राजा **मानसवेग** ने चक्रवर्त्ती (नरवाहनदत्त) को आकाश से एक अन्धकूप में गिरा दिया। किन्तु, वे अपनी शक्ति से बाहर निकल आये। क्रुद्ध **वेगवती** भी अन्तरिक्ष में भाई को पराजित कर, वह मेरे साथ आई है, (जो अभी-अभी) अन्तःपुर में गई है। युवराज भी **चम्पा** में **वीणादत्तक** के घर सुखपूर्वक हैं, इसलिए कोई आशंका न करें। 'पुत्र, माताओं से भेंट करो!' इस प्रकार राजा से आदेश मिलने पर उसने मेरे साथ (अन्तःपुर में) जाकर दोनों देवियों की दूर से ही वन्दना की। क्षणभर अन्तःपुर में ठहरकर जब वह निकला, तब मैंने कहा: स्वामी का वृत्तान्त मुझसे विस्तारपूर्वक कहो। जैसा अभिन्न मित्रों के समक्ष निःशंक भाव से रहस्य खुलता है, वैसा गुरुजनों के निकट रहस्य का उद्घाटन नहीं हो पाता है ॥३०९–३१५॥

उस (अमितगति) ने कहा: 'यदि ऐसी बात है, तो कहीं एकान्त में बैठो, चलते-चलते न तो यह (वृत्तान्त) कहा जा सकता है, न ही सुना जा सकता है।' तब मैं (उसके साथ) अन्तःपुर के शिखर-भाग पर चला गया और वहाँ से साधारण जनों को हटाकर, बैठ

गया, तब उसने मुझे आपका वृत्तान्त सुनाना शुरू किया : "युवराज ने मुझे कील के बन्धन से मुक्त किया और उन्हीं से आज्ञा पाकर मैंने **अंगारक** के विरुद्ध प्रयाण किया। चक्रवर्त्ती के भय से उसने **कुसुमालिका** को छोड़ दिया—बलवान् का आश्रय-प्राप्त दुर्बल से भी लोग डरने लगते हैं। वही मैं तुम्हारी सखी को (साथ) लेकर विश्वस्त भाव से पिता के आश्रम में चला गया और **काश्यप** के आश्रम में ही (हम) इतने दिनों तक रहे। चक्रवर्त्ती ने मेरा स्मरण किया, इसलिए आज मैं अनुगृहीत हूँ। मैंने जाकर देखा, वे कुएँ में संकटग्रस्त पड़े थे। कुएँ में पड़े हुए ही उन्होंने मुझे आज्ञा से अनुगृहीत करते हुए कहा : 'भाई के साथ युद्ध करती हुई **वेगवती** की रक्षा करो' ।।३१६–३२२।।

मैंने अन्तरिक्ष में जाकर देखा, वह (वेगवती) अपने शत्रु-भाई को उसी प्रकार पराजित कर चुकी थी, जिस प्रकार कोई योगिनी-चक्रवर्त्ती अपने राग (सांसारिक मोह) को उखाड़ फेंकती है। उसने मुझ प्रणत को दूर से ही शीघ्र आज्ञा दी, 'भाई, प्रज्ञप्ति की आवृत्ति करके स्वामी का पता लगाओ।' मैंने कहा : 'देवि ! वे चम्पानिवासी **दत्तक** के भवन में हैं, अतः उन्हें वहीं ढूँढ़ा जाय।' अब **वेगवती** अपने वेग से मुझे पीछे छोड़कर आगे निकल गई, जैसे वर्षा ऋतु के स्थिर मेघ को अतिक्रान्त कर हवा का अविच्छिन्न झोंका आगे निकल जाता है। बहुत देर के बाद **चम्पा** पहुँचने पर मैंने मनुष्यों के लिए अदृश्य देवी को **दत्तक** के भवन में देव के निकट देखा, जहाँ अनन्त (शेष) नाग के उत्संग में सोये हुए विष्णु की तरह, आकाश के स्वामी (विद्याधर-चक्रवर्त्ती नरवाहनदत्त) अनेक भोगसाधनों से चिह्नित पलंग पर बैठे हुए थे। युवराज ने आदरपूर्वक **दत्तक** से पूछा : 'बताओ, गन्धर्वदत्ता का रूप कैसा है ?' इसपर क्रोध, दैन्य और लज्जा से मलिन **वेगवती** ने कहा : '**अमितगति** ! स्वामी का आचार देख लो।' **दत्तक** ने भी उस (गन्धर्वदत्ता) के रूप का ऐसा वर्णन किया कि उसी क्षण स्वामी का मुख खिल उठा और **वेगवती** का मुख मलिन पड़ गया ।।३२३–३३१।।

उसके बाद स्वामी ने धीरे से कहा : '**दत्तक** कुएँ का कच्छप है, तभी तो यह **गन्धर्वदत्ता** के रूप की प्रशंसा कर रहा है। यदि यह मूढ मेरी प्रिया **मदनमंजुका** को देख ले, तो **गन्धर्वदत्ता** का कौन कहे, **रम्भा** का भी वर्णन न करे।' इसपर स्वामिपुत्री (वेगवती) ने धीरे-से सिर हिलाकर मुझसे कहा : 'जरा ध्यान से सुनो, यहाँ बहुत कुछ सुनना है।' स्वामी ने फिर कहा : 'वह प्रिया (मदनमंजुका) मेरे लिए प्यारी है। हालाँकि, प्रिया **वेगवती** को प्राप्त करके उसे मैं सचमुच भूल ही गया।' इस बार मैंने देखा कि लज्जा से म्लान होते हुए भी उस (वेगवती) के अंग-प्रत्यंग तीव्र रोमांच से खिल उठे। मुस्कराती हुई उसने मुझसे कहा भी : 'भाई अब हम चलें, कहीं ये (स्वामी नरवाहदत्त) फिर कोई दूसरा दुर्वचन न बोल बैठें। एक कटूक्ति से अनेक मधुर वचन दूषित हो जाते हैं, जहरीले पानी के एक कण से दूध का विशाल कुण्ड विषैला हो जाता है' ।।३३२–३३८।।

जितने समय में देवी (वेगवती) ने ये सब बातें कहीं, उतनी देर में कुछ सोचकर स्वामी ने तर्क किया : 'जिस तरह दूसरी को प्राप्त करके मैंने पहली प्रिया को भुला दिया,

उसी तरह तीसरी की प्राप्ति से दूसरी भी विस्मृत हो जायगी—काव्य, स्त्री, वस्त्र और चन्द्र में, गुण नहीं होने पर भी, केवल उनकी नवीनता से ही लोग स्वभावतः अनुरक्त होते हैं। अतः, **गन्धर्वदत्ता** के लिए शर्त्त रखी जाय; **अर्जुन** ने जैसे **द्रौपदी** को जीता था, वैसे ही मैं उसे साग्रह स्वीकार करूँगा' ।।३३९–३४२।।

दृष्टिविष (सर्प) के दृष्टिपात के समान पति की इस दुःखदायक बात से वह (वेगवती) मूर्च्छित होकर धरती पर निश्चेष्ट पड़ गई। तब किंकर्त्तव्यविमूढ मैंने किसी तरह भी उस वृत्तान्त से, जिसके लिए सैकड़ों प्रतिकार निष्फल थे, स्वामी को अवगत नहीं कराया। संज्ञा प्राप्त करके वह उठी और अन्तरिक्ष में जाकर बोली : 'गुरु के चरणों की वन्दना करती हुई मैं अपने शरीर को समाप्त करूँगी। अथवा, हे भाई, तुम बन्धुत्व का निर्वाह करो, लकड़ियाँ ले आओ। राजद्वार और श्मशान में जो साथ देता है, वही बान्धव है। शरीरधारी प्राणी शरीरी होने से ही दुःखों का अनुभव करते हैं, इसलिए दुःखों के अधिष्ठान मेरे शरीर को जला डालो।' मैंने कहा : 'कहाँ आप देव की पत्नी और **वेगवान्** (जैसे विद्याधर) की पुत्री, और कहाँ आपके मुख से निकला यह असदृश वचन ! यदि एक बार शरीर त्याग करने पर पुनः शरीर नहीं होता, तो आत्मवादी और नैरात्म्यवादी (दोनों एक-दूसरे के) विरोधी नहीं होते। जिसे मोक्षार्थी, बहुत कष्ट से, दीर्घकाल में, चित्तवृत्ति के निरोध से प्राप्त करते हैं, वह मोथे की गाँठ बराबर विष से ही प्राप्त हो जाता। अतः, हे देवि ! सभी सर्वज्ञों द्वारा निन्दित नास्तिक-भाव का त्याग करके धर्म के अधिकरणभूत शरीर का पालन करें। शून्य चित्तवाली वह, ये सारी बातें अनसुनी करके, बोली : 'अरे भाई ! लकड़ियाँ एकत्र करो, देर करने से क्या लाभ ?' मैंने कहा : 'यदि आपने अपने मन में यही निश्चय कर लिया है, तो मैं ही पहले चिता में प्रवेश करूँगा।' इसपर कुपित होकर कठोर शब्दों में उसने मुझसे कहा : 'मेरे साथ मरने से लोग तुम्हें क्या कहेंगे ?' तब, मैंने उससे कहा : 'सचमुच, यह बात तो असंगत होगी, किन्तु, जीवित रहना भी तो महादोष है। (इस सन्दर्भ में) एक कथा सुनिए : अन्तरिक्ष में स्थित उस (वेगवती) के लिए असम्बद्ध बातों के चीथड़ों से कथा की कन्था फैलाते हुए मैंने उसके चित्त को अनुकूलित कर लिया ।।३४३–३५६।।

"भागीरथी का एक कछार है, जो ऊँचे-ऊँचे काँस और सरकण्डों से भरा है और वह प्रायः बैर और खैर के जंगलों से दुर्गम है। उसकी सीमा तक लुटेरे तथा खड्गधारी दानव और चोर फैले हुए हैं। इस प्रकार के बीहड़ किले में रहकर ये राजाओं से भी नहीं डरते हैं। इसी जंगल के प्रभाव से व्याघ्रों ने गोकुलों को उजाड़ रखा है और मतवाले गीदड़ और हाथी व्रज (गोशाला) के कुत्तों की तरह हरेक को भौंकते रहते हैं। वहाँ ग्रीष्मकालीन जंगली आग की ज्वाला से उत्पन्न कष्ट को गंगा अपने, दूध की भाँति उज्ज्वल, जल के प्रवाह से शान्त करती है ।।३५७–३६०।।

कहा जाता है कि वहाँ एक ओर, बैर की झाड़ियों से घिरे सरकण्डे के झुरमुट में सौ द्वारोंवाला, बिल बनाकर एक चहा रहता था। आश्रमवासी संन्यासियों के समान वह

वन में उत्पन्न पवित्र अन्न तथा गंगा के जल से, अपने आश्रितों का भरण-पोषण किया करता था। एक दिन जब वह आहार की खोज में कहीं गया हुआ था, तभी उसका एक नगरवासी मित्र चूहा उसके घर आया। जब वह बैठ गया, तब चुहिया ने अर्घ्य, पाद्य आदि से उसका सम्मान किया। उस (मित्र चूहे) ने उससे पूछा : 'अरी सखी ! मेरा मित्र कहाँ गया है ?' उस (चुहिया) के, 'आहार के लिए', ऐसा कहने पर वह (चूहा) वापस जाने लगा, तो चुहिया ने उससे कहा : "आप के भ्राता आते ही होंगे, क्षणभर प्रतीक्षा कीजिए। कृतघ्न व्यक्ति के भी, बिना सत्कार के, घर से चले जाने पर, आपके वह मित्र, सात रात तक निद्रा और आहार की अभिलाषा तक छोड़ देते हैं। आप तो उनके मित्र हैं, बहुत दिनों के बाद घर में आये हैं, फिर बिना आतिथ्य के, 'जाता हूँ', ऐसा कहते हैं — आप तो बिना सींग के बैल मालूम होते हैं !" ॥३६१–३६७॥

जबतक उन दोनों के बीच यह वार्त्ता हो रही थी, तभी निर्ग्रन्थ साधु के अंग के समान मलिन धूम से सूर्य मलिन पड़ गया, मानों वह राहुग्रासजन्य अन्धकार से आवृत हो गया। इसके बाद चिनगारीवाली राख की बौछार उड़ानेवाला और गंगा को ताण्डव नृत्य करानेवाला तूफान चलने लगा। फिर, 'पृषत' (चितकबरे हरिण) और 'गोकर्ण' जाति के मृगों का सिलसिलेवार झुण्ड घबड़ाये हुए व्याघ्रों को लाँघते हुए गंगा की ओर दौड़ने लगा। वह अधम चूहा घबड़ा उठा और उस चुहिया से कहकर भागने की तैयारी करने लगा। इसपर उस चुहिया ने घबड़ाकर कहा : 'ओह ! आप जैसे देवर ने तो अपना नगरवासी होने का गुण दिखला ही दिया, तभी तो, अपनी रक्षा के लिए (आपने) यह महासाहस शुरू किया है। धर्म और अर्थ-सम्बन्धी ग्रन्थों के जानकार नागर कहते हैं कि पण्डित अपने लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का भी त्याग कर दे। (जब कभी कोई) मित्र या अमित्र विपत्ति में पड़ा, तब आपके जैसे मित्र ने अपने शरीर की उपेक्षा करके गुणों की ही रक्षा की। अथवा, केवल बातचीत व्यर्थ है, यह तटस्थ रहने का समय नहीं है, दावाग्नि में जलने के भय से मेरे अबोध पुत्रों की रक्षा करें। इन अनेक अबोध बच्चों को, जिनकी अभी आँखें भी नहीं खुली हैं और पाँच ही रात पहले जिनका जन्म हुआ है, मैं उठाकर ले जाने में असमर्थ हूँ। आप पुरुष हैं, समर्थ हैं, सन्तान से आपको प्रेम है; अतः यत्नपूर्वक गंगातट के ऊँचे टीले पर इन पुत्रों को ले चलें।' किन्तु, वह अधम चूहा चुहिया की बातों को अनसुनी करके व्याकुल व्याघ्र की पूँछ से चिपककर गंगा के तट की ओर भाग गया ॥३६८–३७८॥

तदनन्तर, उस कछार के चारों ओर जोरों की 'पटापट' आवाज होने लगी, मानों पक्के फर्श पर ओले गिर रहे हों। पूरे कछार पर बुभुक्षु अग्नि को देखकर (ऐसा लगता था), मानों उसका सारा शरीर ज्वाला के व्याज से जिह्वामय हो गया है। वह दावानल-रूपी कालाग्नि, तृणपुंज से व्याप्त विस्तृत कछार के संसार को जलाकर, इन्धन के अभाव में, गंगातट के क्षितिज के पास पहुँचकर शान्त हो गई। तेज हवा से उड़कर, जमीन पर जहाँ-तहाँ राख के टीले जमा हो गये, जिससे क्षणभर में वह कछार वल्मीकों से भरा हुआ-सा दिखाई पड़ने लगा ॥३७९–३८२॥

ऐसे समय में, आहार की खोज में निकला वह चूहा शंकाग्रस्त भाव से बहुत देर के बाद, चिह्नों के आधार पर अनुमान करके, अपने घर पहुँचा। वहाँ उसने भीतर घर में अपनी अचेतन कान्ता को देखा, जो ज्वाला के सम्पर्क से उष्ण धुएँ की लपट में झुलस गई थी; वह सर्वांग से सभी बच्चों को, जिनकी आँखें बन्द थीं और जो निष्प्राण हो चुके थे, चिपकाकर दीर्घनिद्रा में पड़ी हुई थी। वह (चूहा) बहुत देर तक चेतनाशून्य-सा खड़ा रहा; फिर, होश में आने पर विलाप करने लगा : 'बन्धु की मृत्यु से पीडित व्यक्ति के लिए विलाप ही एकमात्र विनोद है। जीवों के कल्याण के लिए ही तो (पंच) महाभूत हुए हैं। फिर, हे महाभूत (अग्नि)! तुमने जीव के अंग में यह क्या कर दिया? ब्रह्मवध आदि बड़े-बड़े पाप भी अच्छे हैं, किन्तु अरे पापी! तुमने जो दुष्कर पाप किया है, वह उनसे भी बढ़कर है। ब्रह्मवध आदि पाप प्रायश्चित्त करने से छूट जाते हैं, किन्तु शरणागत बच्चे और स्त्री की हत्या का पाप नहीं छूटता। चूँकि निष्करुण होकर तुमने इस चहे के कुल को जला डाला, इसलिए दस हजार जन्मों तक तुम चूहा होओगे। अथवा, यह प्रदीप्त शापाग्नि उसी विचारशून्य को जलाये, जिसने तुम्हें सर्वभक्षी बनाया' ।।३८३–३९१।।

इस प्रकार, वह विलाप कर रहा था कि उसका वह स्थिर मित्र अन्य चूहों के साथ (उसके पास) आकर मिथ्याभाषण करने लगा : 'मित्र! सखी ने स्वयं ही स्त्रीजनोचित विपरीत स्वभाव के कारण, मेरे प्रार्थना करने पर भी, परिवार को सकट में डाल दिया। मैंने दस बार कहा कि तुम मेरे साथ, तीन बार में, बच्चों को गंगा के किनारे ले चलो। किन्तु, उसने लापरवाही से मुझसे कहा कि आपके जैसे कायरों की बुद्धि निरापद स्थिति में भी सैकड़ों विपत्तियों की कल्पना कर लेती है। इस बेंत और सरकण्डे से भरे प्रान्त के बीच में बड़ा तालाब है। जहाँ नीले और घने पत्तोंवाले जामुन और वंजुल (अशोक या नरकुल) के वृक्ष की पंक्तियाँ हैं, ऐसे अदाह्य वृक्षों को जलाने का सामर्थ्य अग्नि में नहीं है। उस बेंत आदि के जंगलों का सिलसिला भी बहुत दूर तक टूटा हुआ है, फिर (आग) हमें कैसे जलायगी?' इस प्रकार, मिथ्या मैत्री का प्रदर्शन करते हुए उसे बहुत देर तक देखकर उस (दुःखी) चूहे ने पूछा : 'जब प्रजावती (मेरी पत्नी) ने वैसा कहा, तब तुमने क्या किया?' उसने कहा : 'जब प्रतिकूल स्वभाव के कारण वह यहीं रह गई, तब कोई आशा न देखकर मैंने अपने प्राणों की रक्षा की।' ऐसा कहकर उस दुष्ट ने जब लज्जा से अपना मुँह नीचा कर लिया, तब (आये हुए) उन चूहों में से एक ने उस दुष्ट चूहे से कहा : "हे बुद्धिमान्! तुमने भूसे की रक्षा करने में धान्य का त्याग कर दिया, आसानी से त्यागने योग्य प्राणों की रक्षा करने में तुमने दुस्त्यज गुणों का त्याग कर दिया। प्राणों और गुणों में कितना अन्तर है, देवों ने चिरकाल तक इसकी मीमांसा करके इन दोनों के साम्य की कल्पना की। तब ब्रह्मा ने उनसे कहा : 'विषम को सम मत करो—प्राण तो तरंग के समान चंचल होते हैं, जबकि गुण मेरु के समान स्थिर।' अथवा, तुम मर ही चुके,

देखो, तुम्हारा यश नष्ट हो चुका है—सज्जन अयश-रूपी मृत्यु से त्रस्त रहते हैं, यश ही उनका जीवन है। 'मित्र ! तुम्हारे परिवार को दावाग्नि ने मेरे सामने जला दिया और मैं बच निकला' ऐसा चूहे को छोड़कर और कौन कह सकता है ?" इस तरह, उन चूहों ने उस दुष्ट चूहे का उपहास किया और दूसरे (दुःखी) चूहे को धीरज बँधाया। उसके बाद उसके (मृत) परिवार का (अग्नि)-संस्कार करके वे जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। चूहों ने उस दिन से उस दुष्ट चूहे के साथ उठना-बैठना, बोलना-चालना और खाना-पीना सब छोड़ दिया ॥ ३९२–४०७॥

स्वामिनी (वेगवती) ने चिताग्नि को पवित्र किया, इसे देखकर स्वयं अक्षतशरीर मैं अभागा स्वामी (अपने) (नरवाहनदत्त) के समक्ष जाकर क्या कहूँगा ? धर्म आदि चतुर्वर्ग का हेतु साधु-समागम है और साधु-समागम से वर्जित व्यक्ति के ये चारों नष्ट हो जाते हैं। अतः, इस गुरुतर दोष से, मेरे लिए मर जाना ही अधिक आसान है। अपयश से मलिन प्राणों को अंगीकृत करना व्यर्थ है।" जबतक समय को बाँधकर कथा समाप्त की गई, तबतक हम दोनों (गोमुख और अमितगति) आपके (राजा नरवाहनदत्त के) प्रासाद-मण्डप के पास पहुँच चुके थे ॥४०८–४११॥

(इस प्रकार, गोमुख ने विस्तार से आत्मवृत्त सुनाते हुए नरवाहनदत्त से कहा :) राजा ने वस्त्र, आभरण आदि से **अमितगति** का सम्मान किया और वह प्रसन्न मन से राजा को प्रणाम करके अन्तर्हित हो गया। उसके जाने के तुरन्त बाद, सेनापति (यौगन्धरायण) ने महाराज (उदयन) से कहा : 'हरिशिख आदि, अनुचरवर्ग के साथ, **चम्पा** जायँ। (प्रायः अपने) नगर में ही रहनेवाले युवराज का बटोही की भाँति असहाय होकर यहाँ आना या वहाँ रहना (दोनों बातें) उचित नहीं हैं। पाँच सौ हाथी, जिनपर अस्त्र-संचालन में अभ्यस्त योद्धा बैठे हों, पाँच हजार वैसे ही घोड़े और घोड़ों से चारगुना पदाति-सैन्य—ये सभी प्रयाण करें, पदाति-सैन्य द्वारा रक्षणीय हस्तिसेना युद्ध में बड़े काम की (कार्यसाधक) होती है।' राजा ने सेनापति की इस समयोचित सलाह की प्रशंसा की और अनुचरवर्ग से संरक्षित करके हमें आपके पास भेज दिया ॥४१२–४१७॥

बड़े-बड़े बन्दरों की किलकिलाहट से गूँजते हुए एवं स्वच्छ पहाड़ी नदियों के जल से भरे विन्ध्याचल की घाटी को पार करते हुए हम चले जा रहे थे। वह सैन्यतन्त्र दूसरे राज्य में प्रविष्ट हुआ, तभी शिखरों पर नगाड़ा और सिंघा बजाती हुई चोरों की सेना आ पहुँची। पेड़ों और पत्थरों में विचरण करनेवाले पक्षी और मृग अदृष्ट हो गये। ऐसा दिखाई पड़ता था, पूरे विन्ध्याचल ने पुलिन्दों (शबरों) का ही रूप धारण कर लिया हो। पुलिन्दों के धनुःखण्ड से अनवरत छूटते हुए बाणों से हम इस प्रकार आक्रान्त हो गये, जिसप्रकार धान के पौधे टिड्डियों से आक्रान्त हो जाते हैं। तदनन्तर, पर्वतारूढ सेनापति (यौगन्धरायण) ने वही किया, जिसे प्रत्यक्ष देखनेवाला भी कोई विश्वास नहीं कर पा रहा था। उनके हाथ से परिचालित भाले और चक्र की नोक से टकराकर लौटे

हुए शत्रु के बाण शत्रुओं का ही घात करने लगे। वेग से परिचालित बरछों के बीच उन (शत्रुओं) का शरीर भी नहीं दिखाई पड़ रहा था, किन्तु परिणाम से उनके (सेनापति के) सहस्रबाहु होने का अनुमान अवश्य किया जा सकता था ।।४१८–४२४।।

मैंने देखा कि चारों दिशाओं में व्याप्त उन विन्ध्यवनवासियों (चोरों) द्वारा छोड़े गये बाण एक साथ आघात कर रहे थे। सबने देखा कि सभी पुलिन्दों के समक्ष, हाथ में चमकती हुई तलवार लिये **यौगन्धरायण** खड़े हैं। उन्होंने देखा कि शत्रुसैन्य ने अपने हथियार ऊपर उठा लिये हैं (हथियार डाल दिये हैं), तभी विमान पर आरूढ अप्सराओं ने उन्हें (पुष्पवर्षा के लिए) निकट से देखा ।।४२५–४२७।।

तपन्तक ने प्रतिपक्ष का ऐसा भीषण क्षय किया, जैसा कि ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके **द्रोण** ने भी नहीं किया था। मैंने भी घोड़े पर सवार होकर जिधर-तिधर अनावश्यक दौड़ते हुए अपनों और शत्रुओं के बीच हास्य का संचार किया। उसके बाद चोरसेना से, हिम-समूह से आवृत सूर्य के चमकते किरण-समूह की तरह, आपकी सेना घिर गई। आकुलता की इस घड़ी में शालवृक्ष के तने के पीछे छिपे एक शत्रु ने बाण से मेरे घोड़े को भीषण रूप से मर्माहत कर दिया। फलतः, वह घोड़ा एँड़ की चोट तथा ठूठों, पत्थरों और गड्ढों की उपेक्षा करता हुआ सरपट भाग चला ।।४२८–४३२।।

शाम होते-होते वह उस गहन विन्ध्य-कानन से बाहर निकल आया और उसने खड़े-खड़े ही प्राण छोड़ दिये, पीछे उसका शरीर भूमि पर गिरा। मैंने छोटी-बड़ी अनेक प्रकार की लकड़ियाँ जमा करके उसका अन्त्येष्टि-संस्कार किया और उदक-क्रिया भी सम्पन्न की। दिग्भ्रान्तचित्त मैंने ऊँचे वृक्ष पर चढ़कर इस गाँव को देखा, जिसके सन्निकट गायों का झुण्ड इधर-उधर घूम रहा था। यहाँ आने पर इस साधु (ब्राह्मण) ने मेरी ऐसी आराधना की, जैसी कोई गुरु, देव, राजा अथवा वर की करता है। उस चोरसेना को **हरिशिख** ने मार डाला, यह समाचार मुझ पथिकों ने कह सुनाया" ।।४३३–४३७।।

कान्ता और मित्र की कथा सुनने को समुत्सुक मेरी वह रमणीय (रात) आँखों में कट गई। दीर्घकाल-पर्यन्त अपनी वृत्ति के समान सेवित निद्रा सर्वेन्द्रियजनित सुखों को समाप्त कर देती है ।।४३८।।

बुधस्वामी-कृत बृहत्कथाश्लोकसंग्रह का 'अजिनवतीलाभ' नामक बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

स्वाध्याय-कक्ष

अनाम स्वामी[1]:

हिन्दी के प्रसिद्ध लेखकों का, लेखन के प्रति कैसा रवैया है, जैनेन्द्र इसके अच्छे उदाहरण हैं। यह उपन्यास, लेखक के सूचनानुसार, सन् १९४२ ई० में लिखा जाना शुरू हुआ। तब प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'विश्ववाणी' में इसके कुछ अंश छपे भी। फिर, इसका लिखा जाना बन्द हो गया। बन्द क्यों न हो? जब लेखक 'अन्दर मन की उधेड़बुन को बाहर कागज पर उतार कर छुट्टी पा लेना' चाहता हो, तो प्रेरणा का स्वरूप क्या और कैसा है, इसे आसानी से समझा जा सकता है। 'आरम्भ के बारह परिच्छेदों तक पुस्तक में विवेचन-भर है, कथा नहीं है।' अब, आप सोचिए कि कैसा उपन्यास लेखक लिखना चाहता था। यह लेखक की बहुत बड़ी समझदारी थी कि इसे उसने लिखना छोड़ दिया था। लेकिन, ३० वर्षों के बाद चि० दिलीपकुमार ने जिद की, कि उसे पूरा करना होगा। लेकिन, तब भी लेखक की दुविधा है कि 'विवेचन पर कथा क्या जमेगी?' लेकिन, जैनेन्द्रजी ठहरे तार्किक, अतः उन्होंने सोचा 'कोरमकोर विवेचन देना पाठक के अलावा, अपने प्रति भी अन्याय होता। अतः, हारकर उसपर कथा की कलम लगानी ही पड़ी।' इस प्रकार, खुद लेखक ही इसे 'मिलावट का माल' कहता है।

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पुस्तक एक स्वामी को लेकर लिखी गई है। यह स्वामी एक आश्रम चलाते हैं। इस सम्बन्ध में इनका कहना है: 'आश्रम सम्हाल सका तो दुनिया सम्हल गई, मैं मान लूँगा। इसे बिसार कर दुनिया पकड़ने चला, तो दोनों जायेंगे और साथ में मैं भी डूबूँगा।' (पृ० २८२) यही आगे चलकर कहते हैं: 'ये आश्रम-फाश्रम सब बेकार बन जायें। गृहस्थ-आश्रम बस एक रह जाय, तो क्या बढ़िया बात हो।' (पृ० २६४) इन का व्यक्तित्व और चरित्र कैसा है, या इनका वाद क्या है? यह जानना-समझना काफी मुश्किल है। एक जगह कहा गया है कि 'जो धरती को मटमैली और ऊजड़ देखकर तृप्त हो, वैसा तीखा इन्द्रियनिग्रही ब्रह्मचर्य इस अनाम का नहीं है, वह तो निश्छल प्रीति और हरियाली उगाकर प्रसन्न है।' (पृ० ३६) लेकिन, उपन्यास की एक पात्री उदिता इनके बारे में कहती है: 'वे तो मौन्युमेण्ट हैं, मौन्युमेण्ट। बोलें-बतलायें नहीं, तो दर्शन उनके अच्छे भी लग सकते हैं। बोलते हैं, तो लगता है, वे गलत वक्त जी रहे हैं। काफी हिस्टोरिकल हो जाय, तो भी चल सकता है।' (पृ० १२०) लेकिन, मुख्य चरित्र होकर भी स्वामी उपन्यास का मुख्य चरित्र नहीं है;

---

१. **लेखक : श्रीजैनेन्द्रकुमार, ७, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२; प्रकाशक : पूर्वोदय प्रकाशन, ७।८, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२; मुद्रक : उद्योगशाला प्रेस, किंग्स वे, दिल्ली-११०००९, संस्करण : द्वितीय, फरवरी, १९७६ ई०; पृ० सं० ३१२; मूल्य : बीस रुपये।**

क्योंकि स्पष्ट नहीं है। इसके इर्दगिर्द जो अन्य चरित्र हैं, वे ज्यादा स्पष्ट और खुले हैं : 'जैसे उदिता है, जो स्वाधीन चिन्तना पसन्द करती है। बी० ए० का इम्तहान देकर इलाहाबाद से छुट्टियों में आई है। वह गुस्ताख भी है। सबसे मजाक करती है। उसकी काट-छाँट कहीं रुकती नहीं है।' (पृ० ८५) एक जगह वह कहती है : 'मजहब ने हमें मूर्खता में डाल रखा है। वह सत्यानाश की जड़ है। मजहब है, तबतक गुलामी है। ईश्वर को मालिक मानकर धरती पर भी मालिक की हमें जरूरत रहेगी।' (पृ० ९४) एक अन्य जगह वह कहती है : 'सन्त-महात्मा गुफाओं और कन्दराओं में क्यों नहीं रहते हैं? वह उनकी सही जगह है। यहाँ दुनिया-संसार में आकर वैराग्य सिखाते हैं, तो खुद का यह राग और आसक्ति नहीं है कि वे दुनिया में आते हैं? आते हैं और दुनिया के लोगों में जबरदस्ती एक गिल्ट : पाप का भाव पैदा करते हैं।... ...राग को ये अपने में से मिटा नहीं सकते, इसलिए इस दुनिया में से उसे मिटाने आते हैं, जैसे अपनी साधना की असफलता का बदला दुनिया से चुकाना चाहते हैं।'(पृ० १२०-१२१)

लेकिन, उदिता का विलोम नारी-चरित्र भी उपन्यास में है और वह है रानी वसुन्धरा। ऐसे चरित्र गढ़ने में जैनेन्द्र कुशल हैं। ऐसी 'परिस्थितियों के भँवर में फँसी हुई नारी' को जैनेन्द्र का कथाकार उँगलियों पर नचाकर कौतुक की सृष्टि करता है और कथा में औत्सुक्य, विविधता और रोमांच भरता है। रानी वसुन्धरा भी शंकर उपाध्याय के साथ ऐसे ही जुड़ गई है। ट्रेन के कूपे में उपाध्याय वसुन्धरा को डाँटते हैं, उसे उठकर खड़ी होने को कहते हैं और जब वह हँसती-सरकती उनसे एकदम सट जाती है, तब उपाध्याय विफर आते हैं और कसकर उसके हँसते मुख पर थप्पड़ जमा देते हैं। इसपर वसुन्धरा उन्हें नामर्द कहती है। (पृ० २२६) यह उपाध्याय अपनी पत्नी का हत्यारा भी है। (पृ० २४४) लेकिन, इसी उपाध्याय के लिए वसुन्धरा के पति कुमार कहते हैं : 'सिर्फ किसान और खेती से नहीं चलेगा। उससे बड़ी भी है, जिनकी जरूरत है। उपाध्याय साहब का तरुणोत्थान उसी की तैयारी में लगा है।... कहाँ हैं महात्मा गान्धी आज, मेरे लिए उपाध्याय उनकी जगह हैं।' (पृ० २६७)

ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि जैनेन्द्रजी का कथाकार कैसे-कैसे कुलाबे मिलाने में कुशल है। और, भाषा के बारे में लेखक की स्वीकारोक्ति है : 'मैं न जाने यह कैसी भाषा लिख गया हूँ? अपने को मैं कैसे खोलूँ? चुनौती सामने है। बुद्धि जिज्ञासा-रूप है और जगत् प्रश्न-रूप। अखिल विश्व एक विराट् पहेली-सा सामने उगकर फैला है।' (पृ० ६९) एक जगह एक पात्र जब कहता है : 'यह लत बुरी पड़ गई है मुझे दयाल, भाषा को भाषा से पार ले जाने की' (पृ० २३९), तो लगता है, लेखक ही बोल रहा है। इस प्रकार, जैनेन्द्रजी स्वयं ही अपनी अच्छी खबर ले लेते हैं। आलोचक को अधिक कुछ कहने की जरूरत नहीं है।

☐ (डॉ०) श्यामसुन्दर घोष

o

योग द्वारा रोगों की चिकित्सा[1] :

प्रस्तुत कृति योगशास्त्र के मनीषी चिन्तक **डॉ० फुलगेंदा सिन्हा** की आधिकारिक लेखनी से प्रसूत है। डॉ० सिन्हा योग को आध्यात्मिक रहस्य की अज्ञेयता का प्रतिपादक विषय के रूप में स्वीकार नहीं करते, अपितु वे मानते हैं, योग योग के लिए नहीं, अपितु योग जीवन के लिए है और इसीलिए वह केवल दर्शन ही नहीं, विज्ञान भी है। पूर्ववर्त्ती काल में योग का दार्शनिक या चिन्तनात्मक पक्ष ही अधिक सबल हो गया था और उसका वैज्ञानिक पक्ष दुर्बल पड़ गया था। किन्तु, परवर्त्ती काल में डॉ० सिन्हा जैसे, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन के व्यापक हित के परिप्रेक्ष्य में, वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करनेवाले विद्वानों ने योग का पुनर्मूल्यांकन किया है और उसके रहस्यगर्भ समझे जानेवाले तथ्यों को मानव-जीवन के लिए परम उपयोगी बताते हुए उसकी पुनर्व्याख्या भी की है।

डॉ० सिन्हा इस समीचीन मत के समर्थक हैं कि **कपिल** द्वारा आविष्कृत और **पतंजलि** द्वारा प्रसारित योग का मुख्य ध्येय सामान्य जनजीवन के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को उन्नत बनाना है। इसीलिए, उन्होंने इस जनोपयोगी कृति की भूमिका में संकेत किया है कि 'चिकित्सात्मक योग के क्षेत्र में यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण योगदान सिद्ध होगी।' योग के प्राचीन आचार्यों ने योगासनों तथा उसके समान्तर अंग षट्कर्म (जिसका केवल पुस्तक की सहायता से अभ्यास करना हानिकर है) द्वारा रोग-निवारण की ओर बीजात्मक रूप में निर्देश किया है; किन्तु योग के कृतविद्य लेखक डॉ० सिन्हा ने इस पक्ष (योगासनों का अभ्यास) को षट्कर्म से मुक्त कर केवल स्वयंसाध्य आसनों के माध्यम से रोगमुक्ति के उपायों का आविष्कार किया है और इसीलिए उन्होंने यह पुस्तक 'स्वयंचिकित्सा के निर्देशक के रूप में लिखी' है।

लोकदृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस पुस्तक के कुल सात अध्यायों में उदरकष्ट, मधुमेह, दमा, सन्धिशोथ (गठिया), मोटापा, हृदयदौर्बल्य तथा उच्च रक्तचाप एवं मानसिक समस्याएँ—इन सात रोगों की यौगिक चिकित्सा-विधि बतलाई गई है और तदनुसार सन्तुलित आहार का निर्देश भी किया गया है। योग के सन्दर्भ में तथाकथित आतंकवादी ईश्वरीय अवधारणा और उसकी परमगोपनीयता के आडम्बर से सर्वथा मुक्त, प्रगतिशील विचारक डॉ० सिन्हा ने अपनी इस उपादेय कृति में, जनसामान्य के लिए विशुद्ध चिकित्साविज्ञान के रूप में, योग को समझने और उससे स्वयं लाभ लेने तथा दूसरों को भी लाभान्वित करने की एक अभिनव दृष्टि दी है। योग के जनतन्त्रीकरण की दिशा में डॉ० सिन्हा का यह सारस्वत प्रयास निश्चय ही अभिनन्दनीय है। पुस्तक की भाषा सुबोध, मुद्रण शुद्ध तथा आवरण सार्थक है।

o

---

१. **लेखक : डॉ० फुलगेंदा सिन्हा, निदेशक, भारतीय योग-संस्थान, पटना-८०००१६; प्रकाशक : आनन्द पेपर बैक्स, ३६-सी, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली–११०००१; मुद्रक : शिक्षाभारती प्रेस, शाहदरा, दिल्ली–११००३२; संस्करण : प्रथम, सन् १९७७ ई०; पृ० सं० १६४; मूल्य : तीन रुपये।**

जिनवाणी[1] :

भगवान् महावीर के २५००वें निर्वाण-महोत्सव के अवसर पर प्रकाशित प्रस्तुत कृति ज्ञानपीठ मूर्त्तिदेवी-ग्रन्थमाला का १३वाँ प्राकृत-ग्रन्थ है। इसमें, भगवान् महावीर के चुने हुए लोकोपकारी उपदेशों पर आधृत अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक ८५६ प्राकृत-गाथाएँ संकलित हैं। यथाप्रस्तुत गाथा-संकलन को विषयक्रमानुसार उपसंहार-सहित बयालीस प्रकरणों में वर्गीकृत किया गया है, जिनमें जैनधर्म-दर्शन के, मोक्षाधिगम के माध्यम, ज्ञान और चारित्र का सर्वांगनिरूपण समाविष्ट है।

भगवान् महावीर द्वारा प्रोक्त मानव-जीवन के शारीरिक, मानसिक और वाचिक समुन्नयन से सम्बद्ध गाथाओं का समश्लोकी हिन्दी-अनुवाद भी इस कृति में दिया गया है। यह अनुवाद प्राकृत और हिन्दी के विचक्षण विद्वान् **डॉ० हीरालाल जैन** (अब स्वर्गीय) द्वारा किया गया है। यह कृति जैनवाङ्मय के मूर्द्धन्य मनीषी, अध्येता और अध्यापक डॉ० हीरालालजी के जीवनकाल में प्रकाश में नहीं आ पाई। महावीर के प्रति निवेदित उनकी यह सारस्वत श्रद्धांजलि, चूँकि महावीर के २५००वें निर्वाण-दिवस के पावन अवसर की स्मृति को समर्पित है, इसलिए डॉ० जैन की, और निर्वाण-महोत्सव की स्मृति के साथ यह प्रकाशन सहज ही जुड़ गया है।

डॉ० जैन की इस मरणोत्तर महत्कृति में यथासंकलित गाथाओं का विशद अनुवाद प्रामाणिक तो है ही, अनुवाद के माध्यम से ही प्राकृत-गाथाओं के मूल शब्दों के संस्कृत-रूप और हिन्दी-पर्याय भी स्पष्ट हो गये हैं। निस्सन्देह, जैनदर्शन की मौलिक उद्भावनाओं—दर्शन, ज्ञान और चारित्र के अन्तर्गत आनेवाले सिद्धान्तों का यह संग्रह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें स्वयम्प्रमाणभूत जैनागमों का सारभूत वचन एकत्र समाकलित हो गया है, जो अन्यत्र प्रायोदुर्लभ है। इसे प्रसिद्ध 'समणसुत्तं' का पूरक ग्रन्थ कहा जायगा, तो अत्युक्ति न होगी। डॉ० जैन के प्रस्तुत उपयोगी गाथा-संकलन के सम्पादन के क्रम में भूमिका-भाग में या परिशिष्ट में या मूल श्लोकों के नीचे गाथाओं के सन्दर्भ-स्रोत भी अंकित कर दिये जाते, तो यह कृति शोध-साधकों के लिए अधिक सूचनात्मक हो पाती।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा किसी विशिष्ट चिन्तन की स्मृति-रक्षा के लिए किया गया यह सात्त्विक प्रयास वरेण्य तो है ही, अनुकरणीय भी है। इस कृति के प्रकाशन द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ ने शुद्ध मुद्रण का प्रतिमान उपस्थित किया है। आवरण के रंग और रेखा में धार्मिक परिवेश का विनियोग श्लाघ्य है।

□ **सूरिदेव**

o

---

१. **संकलन एवं अनुवाद : डॉ० हीरालाल जैन (अब स्वर्गीय); प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बी। ४५–४७, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली–११०००१; मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००५; संस्करण : प्रथम, सन् १९७५ ई०; पृ० सं० २००; मूल्य : बारह रुपये।**

शंकरदेव : साहित्यकार और विचारक[1] :

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक **मागधजी** हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आलोचक के रूप में पहले से परिचित हैं। सम्प्रति, वे गुवाहाटी-विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हैं, साथ ही शोधकार्यों में भी निरन्तर संलग्न हैं। बिहार से असम में आकर मागधजी ने, सन् १९७१ से १९७३ ई० के बीच, बहुत कम समय में ही, दो महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये हैं : पहला, असम के धर्मगुरु, कवि, गीतकार, नाट्यकार तथा समाजसुधारक **शंकरदेव** और हिन्दी के कृष्णभक्त गायक कवि **सूरदास** का तुलनात्मक अध्ययन, जिसके आधार पर उनको डी० लिट्० की उपाधि भी मिली और दूसरा, प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना। यद्यपि असमिया और अँगरेजी दोनों भाषाओं में शंकरदेव के सम्बन्ध में अबतक बहुसंख्य लेख तथा ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, तथापि बहुत-सी बातों की ओर पूर्ववर्त्ती आलोचकों ने ध्यान नहीं दिया था, शंकरदेव के साहित्य का कलात्मक विश्लेषण भी प्रायः नहीं हुआ था। ऐसी स्थिति में मागधजी का ग्रन्थ कुछ विशेषत्व के साथ आया है। ये विशेषत्व हैं :

१. असमिया और अँगरेजी दोनों भाषाओं में अबतक प्रकाशित शंकरदेव-विषयक सभी ग्रन्थों से यह ग्रन्थ, विषयवस्तु की अधिकता तथा आकार की दृष्टि से भी, बड़ा है।

२. शंकरदेव जैसे महापुरुष के सम्बन्ध में असम-भूमि के बाहर जितना प्रचार होना चाहिए था, उतना प्रचार अबतक नहीं हुआ। पंजाबी युनिवर्सिटी द्वारा प्रकाशित यह ग्रन्थ प्रचार की दृष्टि से और राष्ट्रीय स्तर पर साहित्यिक सहयोगिता की दृष्टि से भी विशेष महत्त्व रखता है।

संक्षेप में कहा जाय, तो हम कह सकते हैं कि मागधजी का यह ग्रन्थ शंकरदेव-सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन के लिए केवल असमिया और हिन्दी-भाषा के क्षेत्र में ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं के क्षेत्रों में भी दिग्दर्शक तथा प्रेरणाप्रद सिद्ध होगा।

धार्मिक विषयों पर आलोचना करते समय साम्प्रदायिक पक्षपातिता तथा स्थानीय संकीर्णता का भी प्रभाव कभी-कभी दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से मागधजी की आलोचना का निर्दोष होना स्वाभाविक है। लेखक के मन में असम आते समय किसी प्रकार का साम्प्रदायिक पूर्वसंस्कार नहीं था, अतः असम के किसी धार्मिक सम्प्रदाय के पूर्वसंस्कार से प्रेरित होकर मागधजी इस कार्य में प्रवृत्त नहीं हुए थे। फिर भी, यदि किसी सम्प्रदाय को चोट लगने योग्य कुछ बातें कहीं-कहीं आ गईं, तो उसके लिए भी मागधजी को हम दोषी नहीं ठहरा सकते। क्योंकि, लेखक ने यहाँ कोई सुनी-सुनाई बात नहीं लिखी, जो कुछ लिखी गई, उन सारी बातों के आधार का भी उल्लेख साथ-साथ किया गया है। अतः, प्रस्तुत

---

१. लेखक : डॉ० कृष्णनारायणप्रसाद 'मागध', हिन्दी-विभाग, गुवाहाटी-विश्वविद्यालय, गुवाहाटी (असम); प्रकाशक : पंजाबी युनिवर्सिटी, पटियाला; मुद्रक : रूपक प्रिण्टर्स, के-१७, नवीन शाहदरा, दिल्ली; संस्करण : प्रथम, सितम्बर, १९७६ ई०; पृ० सं० ४८६; मूल्य : अनुल्लिखित।

ग्रन्थ में गृहीत उन तथ्यों का खण्डन करना हो, तो उसके पहले समाज में प्रचलित तथ्यों और तत्सम्बन्धी ग्रन्थों की प्रामाणिकता का खण्डन करना आवश्यक होगा।

यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय का आलोच्य विषय इस प्रकार है : प्रथम अध्याय में शंकरदेव के पूर्वजों का परिचय तथा शंकरदेव का जीवन-चरित है। द्वितीय अध्याय में शंकरदेव की रचनाओं का श्रेणीबद्ध विवेचन तथा विश्लेषण किया गया है। तीसरे अध्याय का विषय काव्यरूप-सम्बन्धी है; जिसमें काव्य के विविध रूपों का विचार-विश्लेषण हुआ है। ग्रन्थ का चौथा अध्याय कारकतत्त्व-सम्बन्धी है। इसमें प्रेरक स्रोत तथा परिस्थिति-सम्बन्धी चर्चा की गई है। ग्रन्थ के पंचम और षष्ठ अध्याय क्रमशः दर्शन तथा भक्तितत्त्व-विषयक हैं। साथ ही, शंकरदेव के बाद उनकी धार्मिक परम्परा में शाखा-उपशाखाओं के विकास की रूपरेखा भी दी गई है। सप्तम अध्याय में शंकरदेव के समाज-दर्शन के सम्बन्ध में लेखक ने विस्तारपूर्वक अपना विचार व्यक्त किया है। उससे समाज पर शंकरदेव के प्रभाव का परिचय पाठकों को मिलने की आशा की जा सकती है। अष्टम अध्याय का विषय काव्य-सौष्ठव रखा गया है। इस अध्याय से शंकरदेव की काव्यप्रतिभा का अच्छा परिचय पाठकों को मिलेगा। यह अध्याय यथेष्ट विश्लेषणपूर्ण तथा विस्तृत भी है। नवम अध्याय से शंकरदेव की नाट्यकला के मूलस्रोत तथा वैशिष्ट्य का पता चलता है। दशम अध्याय में शंकरदेव के व्यक्तित्व का परिचय, उनके महत्त्वपूर्ण कार्यों के आधार पर, देने का प्रयास अधीती लेखक ने किया है।

साहित्य के विचार-क्षेत्र में मतभिन्नता अस्वाभाविक नहीं। जब विचार कुछ आगे बढ़ता है, तब कुछ-न-कुछ उसका विरोध भी होने लगता है। अतः, प्रस्तुत ग्रन्थ के विचार से यदि किसी का मतानैक्य हो, तो वह विचार की गतिशीलता का परिचायक है। वस्तुतः, लेखक ने निर्भीकता से अपना विचार पाठकों के सामने उपस्थित किया है। साथ ही, पूर्वप्रचलित मत तथा केवल प्रतिष्ठित विद्वानों के देखे-दिखाये पथ को ही यहाँ लेखक ने नहीं अपनाया। ऐसी स्थिति में हम मतानैक्य की अपेक्षा विचार की नवीनता को ही अधिक मूल्य देना उचित समझते हैं।

अन्य भाषाक्षेत्र से आकर कम समय में ही मध्यकालीन असमिया-साहित्य का अध्ययन कर, इस प्रकार का ग्रन्थ प्रणयन करना बहुत सहज काम नहीं। मुद्रण का कार्य भी अपने स्थान से दूर और कुछ शीघ्रता से करना पड़ा है। इसलिए, कुछ सामान्य त्रुटियाँ बीच-बीच में दृष्टिगोचर होती हैं। पर, ये त्रुटियाँ इतनी सबल नहीं कि वह मूल वस्तु पर आघात कर सकें। अतः, हम मागधजी के तथा पंजाबी युनिवर्सिटी के इस संयुक्त प्रयास को सफल तथा प्रशंसनीय मानते हैं और भविष्य के लिए भी उनसे बड़ी आशा रखते हैं। मागधजी की भाँति काम करनेवाले अन्य सज्जनों के लिए भी असम में गवेषणा का भिन्न-भिन्न क्षेत्र पड़ा हुआ है। विशेष कर प्राचीन भारतीय शास्त्रीय संगीत की पटभूमि पर असम के शास्त्रीय संगीत का स्वरूप-विश्लेषण अबतक किसी ने नहीं किया। शंकरदेव के बरगीत के शास्त्रीय आधार को लेकर अबतक विवाद का अन्त नहीं हुआ।

इस क्षेत्र में, वर्त्तमान समय में प्रचलित कर्णाटकी और हिन्दुस्थानी संगीत के आधार पर नहीं, अपितु पन्द्रहवीं शती के भारतीय शास्त्रीय संगीत के आधार पर असम के शास्त्रीय संगीत का मूल्यांकन होना चाहिए। मागधजी ने असमिया-साहित्य के गम्भीर अध्ययन से परिपुष्ट मध्यकालीन असमिया-साहित्य के साथ समाज का भी एक बड़ा-सा चित्र अपने इस ग्रन्थ द्वारा भारतवर्ष के विशाल क्षेत्र के पाठकों के सामने उपस्थित किया है।

☐ **श्रीबापचन्द्र महन्त**

o

कबीरपन्थ की जागूशाखा[1] :

पन्थ-साहित्य के अनुसार, कबीर के चार प्रमुख शिष्यों (जागू, भागू, सुरतगोपाल एवं धर्मदास) में जागू साहब के शिष्यों की गुरुगादी, आचार्य-मठशाखा की आठवीं गुरु-परम्परा में, **हाथीरामदासजी** द्वारा विदुपुर में स्थापित हुई। 'कबीराष्टकम्' में पन्थ के विभिन्न शिष्यों एवं जागूशाखा की गुरुगादी विदुपुर का उल्लेख निम्नांकित पदों में प्राप्त होता है :

जागू दास भागू तथा सुति गोपाल प्रवीण।
धर्मदास विशुद्ध मति सत्य प्रेम में लीन॥
जागू दास पुनीत मति शिष्य भक्ति अनुसार।
बिदुपुर शुभग्राम मे किया निवास विचार॥

प्रस्तुत खोज-पुस्तिका में लेखक ने जागू साहब का जीवनवृत्त, बिदुपुर के आचार्य-मठ एवं मठ की गुरु-परम्परा का वर्णन-मात्र किया है; क्योंकि जागूशाखा की आचार्य-गादी के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, पूजा-पाठ, आस्था-विश्वास आदि कबीरचौरा की सुरतगोपालवाली शाखा के ही अनुरूप हैं तथा वहाँ से प्रकाशित-प्रसारित पन्थ-साहित्य एवं विचारधारा को ही ये लोग भी मानते हैं। इस प्रकार, कबीरपन्थ एवं पन्थ-साहित्य को जागूशाखा ने हर समय सुरक्षित रखने का प्रयास किया, जबकि धर्मदासियों ने उसमें विकृति उपस्थित की है। अतः, धर्मदासियों ने पन्थ-साहित्य को आगे बढ़ाया, जबकि अन्य शाखाएँ स्थिर (जड़वत) रहीं। फलस्वरूप, पन्थ-साहित्य (जागूशाखा) के विकास में मठ के गुरुओं ने, मौलिक काव्य एवं दार्शनिक प्रतिभाओं की कमी के कारण, कोई विशिष्ट योगदान नहीं किया, फिर भी कबीरपन्थ की जागूशाखा के आचार्य-मठ (जिसका उल्लेख **फ्रांसिस बुकानन** ने किया है) एवं उसकी गुरु-परम्परा को जानने की दृष्टि से पुस्तिका उपयोगी है।

☐ **(डॉ०) प्रफुल्लकुमार सिंह 'मौन'**

o

---

१. लेखक : **श्रीमुनीश्वर राय 'मुनीश'**, प्रधानाध्यापक, जनता हाइ स्कूल, पानापुर, धर्मपुर (वैशाली); प्रकाशक : कबीरमठ (जागूशाखा गुरुगादी), बिदुपुर (वैशाली); मुद्रक : जयदुर्गा प्रेस, नयाटोला, पटना–८००००४; संस्करण : प्रथम, नवम्बर, १९७७ ई०; पृ० सं० ६६; मूल्य : पाँच रुपये।

चूरू-मण्डल का शोधपूर्ण इतिहास[1] :

श्रीगोविन्द अग्रवाल का यह ऐतिहासिक शोधग्रन्थ भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के लेखकों तथा अध्येताओं को नवीन दिशाबोध करानेवाला है। ग्रन्थ पर आद्योपान्त दृष्टिपात करने से यह सुविदित हो जाता है कि लेखक ने न केवल इस भूभाग का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत किया है, वरन् जनसामान्य की जीवन्त संस्कृति को भी उपन्यस्त किया है।

लेखक की अनूठी लगन, तटस्थ एवं पैनी दृष्टि तथा अथक परिश्रम का परिचय इस प्रबन्ध की प्रत्येक पंक्ति में मिलता है। इक्कीस अध्यायों और चौआलीस परिशिष्टों से युक्त यह ग्रन्थ ऐतिहासिक तथ्यों का तो भली भाँति निरूपण करता ही है, साथ ही कला, धर्म-सम्प्रदाय, भाषा-लिपि, साहित्य-शिक्षा, आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक रीति-रिवाज, लोक-विश्वास आदि के सम्बन्ध में भी रोचक एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है।

लेखक ने कठोर साधना करके, चूरू-मण्डल के अनेक अप्रकाशित एवं नष्टप्राय मूर्त्तिचित्र, पट्टे-परवाने, शिलालेख, ताम्रपत्र आदि पर पहली बार प्रकाश डाला है। अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन विद्वानों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के उद्धरणों का सहारा लेकर अपने प्रतिपाद्य को पुष्ट करना लेखक के गहन अध्ययन एवं विद्वत्ता का द्योतक है। इस ग्रन्थ में दिये गये १०१ चित्र ग्रन्थ की गरिमा कोबढ़ानेवाले तथा ज्ञानवृद्धि की दृष्टि से विशिष्ट हैं।

श्रीअग्रवालजी ने यह प्रबन्ध लिखकर इतिहास-लेखकों के लिए एक नई विधा उपस्थित की है। मेरा अपना अभिमत है कि ऐसा जीता-जागता आंचलिक इतिहास हर एक अंचल का तैयार किया जायगा, तभी समूचे राष्ट्र का सही एवं सम्पूर्ण इतिहास निर्मित हो सकेगा। चूरू-मण्डल को उजागर करनेवाला, सत्यनिष्ठा के साथ लिखा गया यह ग्रन्थ श्रीअग्रवालजी की शोध-साधना को शाश्वती प्रतिष्ठा देनेवाला है।

पाँच सौ से भी अधिक पृष्ठों के इस बृहद् ग्रन्थ की साज-सज्जा उत्तम कोटि की एवं छपाई सुन्दर है। इस महत्त्वपूर्ण सारस्वत कार्य के लिए लेखक और प्रकाशक का प्रयास प्रशंसार्ह है।

o

---

१. लेखक : श्रीगोविन्द अग्रवाल, लोकसंस्कृति-शोध-संस्थान, नगर-श्री, चूरू (राजस्थान); प्रकाशक : श्रीसुबोधकुमार अग्रवाल, मन्त्री, यथोक्त शोध-संस्थान; मुद्रक : श्रीसतीशचन्द्र शुक्ल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर; संस्करण : प्रथम, सन् १९७४ ई०; पृ० सं० ५६०; मूल्य : पचास रुपये।

गुजरात के खाम्भी एवं पालिया[1] :

विद्वान् लेखक **श्रीजयमल्ल परमार** ने ५२ पृष्ठों तथा ७२ अनुवाकों की इस लघु कृति में गुजरात-राज्य की उपेक्षित स्मारक-निधि खाम्भी एवं पालियों पर अत्यन्त रोचक एवं उपयोगी प्रकाश डाला है। खाम्भी एवं पालियों के विविध प्रकार, उनपर उकेरे गये, विविध प्रतीकों, उनके अभिलेखों में मिलनेवाले वृत्तान्तों तथा स्मारकों से सम्बद्ध घटनाओं का सचित्र वर्णन इस कृति में प्राप्त होता है। इतिहास, लोकसंस्कृति, समाजशास्त्र, धर्म, पुरातत्त्व, शिल्प एवं भाषा-लिपि इन सभी दृष्टियों से यह अध्ययन नितान्त उपयोगी बन पड़ा है।

खाम्भी एवं पालिया लोकसंस्कृति के जीवन्त प्रतीक हैं। वस्तुतः, पुरातात्त्विक अवशेषों के बाद ये इतिहास को जोड़नेवाले आँकड़े (कड़ियाँ) हैं। आदिवासियों तथा सुसंस्कृत जनों में इन खाम्भी और पालियों के निर्माण कराने का समान रूप से प्रचार था (अनुवाक ४)। लेखक ने वेदकाल, बुद्धपूर्वकाल, पुराणकाल, क्षत्रपकाल तथा ई० पू० से १८वीं शती तक प्राप्त होनेवाले खाम्भी एवं पालियों का सूक्ष्म एवं ब्यौरेवार विवरण उपस्थापित किया है। पुरातत्त्व, शिल्प, लोकजीवन में उनकी महत्ता तथा भाषाशास्त्रीय विश्लेषण से लेखक की बहुश्रुतता तथा वैदुष्य का परिचय प्राप्त होता है। यथा, अनुवाक ७ में 'चितम्', 'चित्यम्', 'चित्या', 'चिता' की छाया 'चैत्य' में देखी गई है। अनु० ११ में वैदिक 'स्थूणां' से 'स्कम्भ', 'खाम्भो' एवं 'खाम्भी' शब्दों का तथा वैदिक 'हैड्क' शब्द से 'ग्रैड्क', 'ग्रैडकां', 'हैडकां' एवं 'हाडकां' का विश्लेषण किया है। इसी प्रकार, लोक में प्रचलित तमाम शब्दों को दिया गया है तथा उनकी व्याख्या की गई है। (अनु० १६)।

'छोगालूं' (हठाग्रह से मरनेवालों के बने स्मारक), 'कमलपूजा' (सिर धड़ से अलग कर मरनेवालों के स्मारक) तथा सती-प्रथा के विवरण विशेष सुरुचिपूर्ण हैं। सती-प्रथा के इतने विस्तृत प्ररूपों को आजतक किसी कृति में नहीं देखा गया था।

खाम्भी एवं पालियों के दिये गये ११४ चित्रों का विवेचन अतीव रोचक, उपादेय एवं साधार हो गया है। राजस्थान एवं दूसरे राज्यों में भी इस प्रकार की प्रभूत सामग्री बिखरी पड़ी है। लोकसंस्कृति-शोध-संस्थान, नगर-श्री, चूरू के द्वारा प्रकाशित यह कृति निश्चित ही इस तरह के उपेक्षित लोकसांस्कृतिक अध्ययन के लिए विद्वानों का मार्ग-दर्शन करेगी।

o

---

१. लेखक : श्रीजयमल्ल परमार, लोकसंस्कृति-शोध-संस्थान, नगर-श्री, चूरू (राजस्थान); प्रकाशक : पूर्ववत्; मुद्रक : श्रीचन्द्रभान गौड़ (सहल), मरुश्री मुद्रणालय, चूरू (राजस्थान); संस्करण : प्रथम, अगस्त, १९७६ ई०; पृ० सं० ५२; मूल्य : छह रुपये।

पोतेदार-संग्रह के अप्रकाशित कागजात :[1]

प्रस्तुत पुस्तक **श्रीगोविन्द अग्रवाल** के कठोर परिश्रम एवं गम्भीर अध्ययन का सुफल है। व्यापारिक घरानों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी अबतक अप्रयुक्त और अप्रकाशित सामग्री का उपयोग करके इसमें राजस्थान के आर्थिक इतिहास की एक झलक प्रस्तुत की गई है। केवल राज्य के आर्थिक इतिहास की दृष्टि से ही इस पुस्तिका का महत्त्व नहीं है, वरन् आनुषंगिक रूप से ऐतिहासिक स्थिति, समाज-व्यवस्था, (लेन-देन, लूट-पाट, झगड़े-टण्टे, लूट-खसोट, अराजकता, शान्ति, धार्मिक मान्यताएँ, लोक-विश्वास आदि) एवं भाषा-विषयक अध्ययन पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत कृति में पारिभाषिक शब्दावली का यथास्थान विश्लेषण किया गया है। हिन्दी, राजस्थानी, गुरुमुखी एवं फारसी इन चारों भाषाओं का प्रयोग इस संग्रह के कागजात में दिखाई देता है। 'तीषै आँकरा' (धनराशि का अगला अंक शून्य में न रहे, उसमें एक की संख्या को जोड़ना) की लोकमान्यता अब भी उसी रूप में विद्यमान दिखाई देती है।

ऋणपत्र एवं दूसरे कागजात के पूरे-के-पूरे प्रारूप इसमें प्रकाशित किये गये हैं। टिप्पणियों से उनका सम्यक् विवेचन करके विद्वान् लेखक ने अपनी नई मान्यताओं की स्थापना की है, जिनसे लेखक का गहन अध्ययन एवं विद्वत्ता उजागर हुई है।

प्रारम्भ में, पोतेदार मिर्जामल एवं उसके परिवार का सामान्य परिचय दिया गया है (पृ० ५ से १२)। आगे मिर्जामल के बीकानेर-राज्य से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण कागजात ऐतिहासिक वर्गीकरण एवं घटनाओं के यथोचित वर्णन के साथ प्रस्तुत किये गये हैं (पृ० १५ से ३०)। अन्त में, सीकर एवं खेतड़ी के कागजात, पंजाब के राजाओं के कागजात तथा अँगरेज-व्यापारियों के कुछ कागजात दिये गये हैं।

अथक परिश्रम एवं सत्यनिष्ठा से तैयार किये हुए पोतेदार-संग्रह का यह विवरण एक रोचक कथा-सा लगता है। आशा है, इस महत्त्वपूर्ण उपयोगी संस्करण का विद्वज्जगत् में सर्वत्र सधन्यवाद स्वागत होगा। इसकी छपाई-सफाई एवं रूपसज्जा सर्वथा आकर्षक है। कागज भी बहुत अच्छा काम में लिया गया है। अतः, यह सब देखते हुए निर्धारित मूल्य उचित ही है।

अनेक अज्ञात शोधसूत्रों को उजागर करनेवाली इस कृति में इतिहास-ग्रन्थों के नये आयाम प्रस्तुत किये गये हैं। यह आदर्श कार्य अन्य विद्वानों एवं शोध-संस्थानों के लिए प्रेरणाप्रद होगा, ऐसा विश्वास है।

□ **(प्रो०) बापूलाल आंजना**

o

---

१. लेखक : श्रीगोविन्द अग्रवाल, पता पूर्ववत्; प्रकाशक : पूर्ववत्; मुद्रक : पूर्ववत्; संस्करण, प्रथम, सन् १९७६ ई०; पृ० सं० ६६; मूल्य : छह रुपये।

'धन्वन्तरि' : कामविज्ञान-अंक (प्रथम एवं द्वितीय भाग)[१] :

मासिक 'धन्वतरि' का दो खण्डों में प्रकाशित कामविज्ञान-अंक अपने अनेकविध महत्त्वपूर्ण लेखों से न केवल वैद्यजगत् के लिए, अपितु योगसाधकों, तान्त्रिकों तथा अपनी श्रीवृद्धि तथा सेहत के इच्छुक सभी पाठकों के लिए संग्रहणीय, पठनीय एवं मननीय है। प्रथम खण्ड में इस अंक के विशेष सम्पादक **डॉ० चाँदप्रकाश मेहरा** ने यौन इन्द्रियाँ, प्राक्क्रीडा, सुहागरात और रतिक्रिया के कुछ चुने हुए आसन और उनकी उपयोगिता के अन्तर्गत वैज्ञानिक ढंग से विषय का सम्यक् प्रतिपादन किया है। **श्रीसर्वार्थ सिद्धानन्द सरस्वती, डॉ० स्वामी गीतानन्दजी, डॉ० रणजीतकुमार साहा** एवं **कौलाचार्य श्रीनथमल दाधीच** क्रमशः लतासाधन, कामवेग के उदात्तीकरण के लिए यौगिक एवं तान्त्रिक सिद्धान्त तथा अभ्यास, वज्रयानी सिद्धों की मुद्रा-मैथुन-साधना तथा शक्तिपूजन विषयक विशिष्ट लेख तान्त्रिकों एवं साधकों के लिए विशेष उपादेय हैं। लतासाधन तान्त्रिकों के लिए परम गुह्य विषय है, जिसपर सरस्वतीजी ने शास्त्रीय पद्धति से विशद प्रकाश डाला है।

कामविज्ञानांक के द्वितीय खण्ड में श्रीसर्वार्थ सिद्धानन्द सरस्वती के 'स्वर और काम-विज्ञान', श्रीचाँदप्रकाश मेहरा के 'कामशास्त्र और तन्त्र-मन्त्र' और पुनः श्रीसरस्वती के 'लतासाधन' (मन्त्रप्रयोगविधि) तथा **श्रीअरुणकुमार शर्मा** के 'आयुर्वेद-तन्त्र और कलीबत्व शीर्षक निबन्ध बहुत उपयोगी और अनुभूत जैसे लगते हैं। श्रीमेहरा ने कामशास्त्र के साथ तन्त्र-मन्त्र का बहुत उपयोगी सहयोग प्रदर्शित किया है। उन्होंने रति-सुखदायक जिन संकेतों का ब्योरा दिया है, बहुत स्वाभाविक है। श्रीमेहरा ने 'वाजीकरण एवं स्तम्भक योग' तथा 'महिलाओं के प्रयोगार्थ कुछ विशिष्ट योग' में मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर, दोनों खण्ड प्रत्येक पाठक के लिए दैनिक जीवन के हितार्थ अवश्यम्पठनीय हैं। ये अंक जितने उपयोगी हैं, तदनुरूप छपाई और आवरण के पृष्ठ आकर्षक नहीं हो पाये हैं। फिर भी, डॉ० मेहरा के गागर में सागर भरने का सत्प्रयास निश्चय ही श्लाघ्य है।

□ **(डॉ०) अजितनारायण सिंह 'तोमर'**

oo

---

१. **सम्पादक : डॉ० चाँदप्रकाश मेहरा, ५५७, मण्टोला स्ट्रीट, पहाड़गंज, नई दिल्ली-५५; प्रकाशक : श्रीज्वाला आयुर्वेद-भवन, मामू-भाँजा रोड, अलीगढ़; मुद्रक : श्रीनाथ अग्रवाल, मीरा प्रिण्टिंग प्रेस, अलीगढ़; वार्षिक मूल्य : चौदह रुपये।**

मधु-संचय

परिषद् : 'कर्मण्यता का एक द्वीप'

हिन्दी के स्तम्भ-हस्ताक्षर **श्रीगंगाशरण सिंह** की अध्यक्षता में संचालित अखिल-भारतीय हिन्दी-संस्था-संघ (नई दिल्ली) द्वारा संघटित हिन्दीतरभाषी प्रदेशों के, तीन मूर्द्धन्य साहित्यकारों के सद्भावना-मण्डल के सदस्यों का, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से ६ अप्रैल (सन् १९७८ ई०) को, **श्रीगुणेश्वरप्रसाद सिंह** (राज्यमन्त्री, उच्च शिक्षा, बिहार) की अध्यक्षता में, विशिष्ट स्वागत-समारोह सम्पन्न हुआ।

परिषद् के निदेशक **आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री** ने स्वागत-भाषण करते हुए कहा : आज मुझे, समुपस्थित प्रवर साहित्यकारों की त्रिवेणी का स्वागत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् एकमात्र ऐसी संस्था है, जो हिन्दी के राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन होने के बाद से ही उसके प्रचार-प्रसार में निरन्तर योगदान कर रही है। इसका प्रयोजन केवल यह नहीं है कि यह राष्ट्रभाषा में अच्छा साहित्य देकर ही उसकी सेवा करे, बल्कि संविधान-स्वीकृत सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य को हिन्दी के माध्यम से जनता के सामने लाना भी इसका मुख्य उद्देश्य है। इस विषय में परिषद् ने अपने अथक सारस्वत परिश्रम से सम्पूर्ण भारतवर्ष की भाषा और साहित्य को एक सूत्र में पिरोने का प्रयत्न भी किया है। परिषद्, न केवल साहित्य की सेवा कर रही है, बल्कि भारतवर्ष के साहित्य को भारतवर्ष की संस्कृति से संयुक्त करने के लिए, उसे एक रूप में, एक सूत्र में बाँधने के लिए जो प्रयत्न चल रहा है, उसे यह अपने ढंग से कर रही है। परिषद् के लिए हिन्दी जितनी प्रिय है, उतनी ही बँगला, असमिया, उड़िया, तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि भारतीय भाषाएँ भी प्रिय हैं।

इसके बाद परिषद् के क्षेत्रीय अनुसन्धान-पदाधिकारी **श्रीराधावल्लभ शर्मा** ने समागत साहित्यकारों को, अभिनन्दन-पत्र पढ़कर अर्पित किया।

अभिनन्दन के उत्तर में **श्रीविमल मित्र** ने कहा : बंगाल में हिन्दी और बँगला के बीच परस्पर विरोध नहीं है। बंगाल में प्रायः सब जगह लोग हिन्दी बोलते और समझते हैं। मैं स्वयं वैसे लोगों का हार्दिक स्वागत करता हूँ, जो राष्ट्रभाषा के प्रचार के लिए प्रयत्न करते हैं। जिस समय मैंने स्कूल जाना आरम्भ किया, उस समय हिन्दी की पढ़ाई बंगाल में नहीं होती थी। उस समय तो केवल अँगरेजी की ही पढ़ाई होती थी। अब भी मुझे याद है कि प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पहले मेरे पिता मुझसे कहते थे कि बँगला मत पढ़ो, अँगरेजी पढ़ो। इसे पढ़ने से अच्छी नौकरी मिलेगी और इज्जत भी बढ़ेगी। लेकिन, इस पचास साल के भीतर सब कुछ बदल गया। इस समय लोग राष्ट्रभाषा की पढ़ाई की ओर ध्यान देने लगे हैं। अब लोग समझने लगे हैं कि राष्ट्रभाषा के पढ़ने से नौकरी मिलेगी, सम्मान मिलेगा और ज्ञान की भी वृद्धि होगी। लेकिन, पहले इस तरह की बात नहीं थी। अँगरेजी के प्रति बचपन से ही मेरे मन में एक भय बैठा दिया गया था और उसी भय के कारण मैंने अँगरेजी का अध्ययन किया। बँगला का भी साथ-साथ अध्ययन चलता रहा।

अँगरेजी के माध्यम से अन्तरराष्ट्रीय महत्त्व की पुस्तकों को पढ़ गया। मेरे जमाने में, बँगला के प्रसिद्ध रचनाकारों में बंकिमचन्द्र, रवीन्द्रनाथ आदि थे। उसके बाद शरत्चन्द्र आये। इन सबकी रचनाओं से मेरा मन भरा नहीं। बंकिमचन्द्र का पहला उपन्यास निकला—'दुर्गेश-नन्दिनी'। इस प्रकार प्रारम्भ हुई मेरी उपन्यास-यात्रा। लेकिन, बाद में टॉलस्टॉय को पढ़ा, डिकेन्स को पढ़ा, अन्य महान् लेखकों को भी पढ़ा। तब लगा कि ये सब बंकिमचन्द्र से भी बड़े नॉवेलिस्ट हैं। अगर मुझे अँगरेजी का ज्ञान नहीं रहता, तो इन महान् लेखकों की रचनाओं को मैं कैसे पढ़ सकता था और उपन्यास ऐसी चीज है, जैसे केमेस्ट्री या फिजिक्स। इसे देश या प्रान्त की सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। केमेस्ट्री केमेस्ट्री है। वह फ्रेंच-केमेस्ट्री, जर्मन-केमेस्ट्री, रूसी-केमेस्ट्री, बँगला-केमेस्ट्री या हिन्दी-केमेस्ट्री नहीं है। वैसे ही साहित्य भी है। साहित्य का एक ही मूल तत्त्व सबमें विद्यमान है, चाहे उसे हिन्दी-साहित्य या बँगला-साहित्य, गुजराती-साहित्य, मराठी-साहित्य, तेलुगु-साहित्य या तमिल-साहित्य कहें। मैं सभी भाषाओं के साहित्य को पढ़ता हूँ और सबसे कुछ शिक्षा ग्रहण करने का प्रयत्न करता हूँ। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का जो काम हो रहा है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यहाँ हिन्दी के अतिरिक्त, अन्य भारतीय भाषाओं के विषय में भी कार्य हो रहे हैं। उनकी उच्च कोटि की रचनाओं को हिन्दी में लाने तथा उन भाषाओं की प्रगति की जानकारी हिन्दी के माध्यम से देने का, परिषद् का कार्य स्तुत्य है।

श्रीकृष्ण वारियर ने कहा : संसार में भौतिक दृष्टि से देखेंगे, तो स्पष्ट होगा कि हमलोग पिछड़े हुए हैं। तो भी यह अभिमान, यह गर्व बना रहता है कि संस्कृति की दृष्टि से हम किसी देश से पीछे नहीं, बल्कि सारे देश से आगे हैं। तो यह अहन्ता है। केवल यह अहं ही नहीं, अहन्ता भी ईश्वर की देन है। इस अहन्ता में जो साहित्य है और साहित्य में जो संस्कृति निक्षिप्त है, वह इसे बनाये रखती है। इसलिए, साहित्य और संस्कृति की सेवा करनेवाली संस्थाएँ हमारे लिए परमपूज्य होती हैं। मैं बहुत पहले से ही इस संस्था—बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से, इसके प्रकाशनों के द्वारा परिचित हूँ। परिषद् के कई ग्रन्थ मेरे पास विद्यमान हैं। 'दोहाकोश' को तो मैं कई बार पढ़ चुका हूँ। इसी प्रकार 'अब्दकोश' (ईयरबुक) का जो प्रकाशन किया जा रहा था, वह भी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। मेरी दृष्टि में 'अब्दकोश' निकालने में शायद भारतीय भाषाओं में यह पहला अनूठा प्रयास था। इस प्रकार, सैद्धान्तिक पुस्तकें ही नहीं, वरन् प्रायोगिक दृष्टि से भी बहुत-सी प्रयोजनपूर्ण कृतियाँ यहाँ से मुद्रित होकर निकली हैं। अभी सुनने में आया कि यहाँ से १२५ पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। सारी पुस्तकें तो मैंने पढ़ी नहीं है, लेकिन कुछ पुस्तकों को पढ़ने का अवसर मुझे मिला है और उनसे मैं बहुत प्रभावित हूँ। इसीलिए, मुझे यहाँ आने पर बहुत ज्यादा खुशी हुई।

हिन्दी और दूसरी अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में आज ही नहीं, बहुत दिनों से चर्चा होती और चलती आ रही है। केरल में हिन्दी के प्रति कोई विरोध नहीं है। हमारे माध्यमिक विद्यालयों में हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है। वहाँ हिन्दी में परीक्षा पास किये

विना एक दरजे से दूसरे दरजे में जाना सम्भव नहीं है। यह ईर्ष्या का विषय है। इस साल तो 'एस्० एल्० पी० सी०' की परीक्षा में दो लाख से अधिक व्यक्ति बैठे हैं। उन सबके लिए हिन्दी का एक पत्र अनिवार्य है। उस पत्र में कम-से-कम ४० अंक प्राप्त किये विना किसी को परीक्षा में उत्तीर्ण घोषित नहीं किया जाता। हिन्दी तो वहाँ साधारण बात बन गई है। अब तो हिन्दी के बारे में जो आवेश, जो जोश पुराने जमाने में था, वह दिखाई नहीं पड़ता; क्योंकि हिन्दी का प्रचार-कार्य अब तो मामूली बन गया है। हमलोग जो अपनी मातृभाषा की सेवा कर रहे हैं, यह चाहते हैं कि जीवन के सभी क्षेत्रों में मातृभाषा का उपयोग हो; ताकि हमारी संस्कृति साधारण-से-साधारण लोगों तक जाय। साधारण-से-साधारण लोगों की इच्छाएँ, आशाएँ और निराशाएँ हमारे साहित्य में भी आ जायँ, हमारी संस्कृति में भी प्रतिफलित हों। इस तरह का आदान-प्रदान आम जनता और उच्च शिक्षा-प्राप्त लोगों के बीच में मातृभाषा के जरिये हो। मातृभाषा को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने और प्रशासन के सभी भागों में मातृभाषा का उपयोग करने के इच्छुक लोग यह चाहते हैं कि हिन्दीभाषी क्षेत्रों में जितना जल्द हो सके, हिन्दी अँगरेजी का स्थान ग्रहण कर ले। अँगरेजी जिस पद पर आसीन है, वहाँ हिन्दी प्रतिष्ठित हो।

मेरी शिकायत है कि हिन्दी की प्रगति के लिए जितना यत्न आपकी ओर से होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ है। लेकिन, जिस प्रकार समुद्र में कहीं-कहीं द्वीप होते हैं, उसी प्रकार, कार्य के प्रति जो अश्रद्धा का भाव हमारे सारे देश में है, उसके बीच भी कतिपय ऐसी संस्थाएँ दीख पड़ती हैं, जहाँ लगन और तपस्या के साथ मनीषी लोग काम करते रहते हैं, फिर भी अज्ञात रहकर अपनी सारी आयु देश के लिए अर्पित कर देते हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् भी ऐसी ही एक संस्था है। **यह अकर्मण्यता के समुद्र में कर्मण्यता का एक द्वीप है।**

श्रीपी० वी० अकिलन्जी ने अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए कहा: आज बिहार-राष्ट्र-भाषा-परिषद् के भवन में प्रवेश करते हुए मुझे ऐसा लगता है कि मैं एक ऐसे पावन मन्दिर में प्रवेश कर रहा हूँ, जिसमें हमारे भारतीय साहित्य की निधि सुरक्षित है। मैं इस पुण्यभूमि का अभिवादन करता हूँ। वैदिककाल से लेकर बौद्धमतानुयायी, जैनमतानुयायी एवं वैष्णव-मतानुयायी आदि अनेक व्यक्ति जो भक्ति-आन्दोलन से सम्बद्ध रहे हैं, वे अपने श्रेष्ठ अनुभवों को, अपने श्रेष्ठ चिन्तन को और अपने श्रेष्ठ भावों को हमारे लिए, आगे आनेवाली पीढ़ियों के लिए छोड़ गये हैं। हमारे पूर्वज हमारे पास अपार सम्पदा छोड़ गये हैं। आप जो विन्ध्य के उत्तर में रहते हैं, अनेक आक्रमणों के शिकार रहे हैं। इसलिए, आपकी बहुत-सी सम्पदा शायद नष्ट हो गई होगी। लेकिन, एक बात मैं बता देना चाहता हूँ कि ये बाह्य आक्रमणकारी भले हमारी भौतिक सम्पदा को मिटा दें, लेकिन हमारी आन्तरिक सम्पदा को कदापि नहीं मिटा सकते। हम, जो कि विन्ध्य के दक्षिण में रहते हैं, आपलोगों ने हमें कई आक्रमणों से बचाया, हमें पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा, इसके लिए हम आपके भी बहुत आभारी हैं। लेकिन, इसके बदले हमने बहुत बड़ा कार्य किया है कि अपने देश की संस्कृति

को, अपने देश के प्राचीन साहित्य को, नाना प्रकार की कलाओं—जैसे संगीतकला, नृत्यकला और विविध शास्त्रीय चिन्तन को सुरक्षित रखने का प्रयास किया।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निदेशक ने अभी-अभी बताया कि इस परिषद् का मुख्य उद्देश्य है—राष्ट्रभाषा का प्रचार-प्रसार और अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य को राष्ट्रभाषा में लाना। उनके इस बात को सुनकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। राष्ट्रभाषा से मैं तात्पर्य समझता हूँ—राष्ट्र की भाषा, देश की भाषा। इस दृष्टि से देखा जाय, तो हिन्दी को सही अर्थों में राष्ट्रभाषा का स्थान मिलना ही चाहिए। हिन्दी की वृद्धि का कार्य हमने केवल आपलोगों को ही नहीं सौंपा है, हमने भी हिमालय की रक्षा की है। इसलिए, हम कहना चाहते हैं कि जिस प्रकार आपका दायित्व है हिन्दी का विकास करना, उसी प्रकार हमारा भी दायित्व है। मैं आपलोगों से यही कहना चाहता हूँ कि हमलोगों को ऐसे संगठन-कर्त्ताओं, ऐसे कार्यकर्त्ताओं का दल तैयार करना चाहिए और उसे दक्षिण के विभिन्न प्रदेशों में भेजना चाहिए, जो अपना सम्पूर्ण जीवन दक्षिण की भाषाओं और उसके समग्र साहित्य के अध्ययन में लगा दे। यह कार्य असम्भव नहीं, यदि आप चाहें, यदि आप दृढ संकल्प लें। यह राष्ट्रभाषा-परिषद् भारतीय भाषाओं में लिखित कला और साहित्य के उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रकाशन करके राष्ट्र की एकता की दिशा में यथावत् ठोस कदम उठाती रहेगी, ऐसा मेरा पूरा विश्वास है।

श्रीअकिलन्जी के तमिल-भाषण का हिन्दी में श्रुति-भाषान्तरण, विविधभाषाविद् प्राध्यापिका **डॉ० कुमारी के० ए० यमुना** ने किया।

इस अवसर पर अखिलभारतीय हिन्दी-संस्था-संघ के कार्यालय-मन्त्री **श्रीजगदीश शर्मा** ने परिषद् के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा : अखिलभारतीय हिन्दी-संस्था-संघ द्वारा आयोजित महान् और वरिष्ठ साहित्यकारों की सद्भावना-यात्रा के क्रम में आपने जो समारोह के साथ इनका स्वागत किया है, उसके लिए मैं संघ की ओर से आभार प्रकट करता हूँ। अ० भा० हि० सं० संघ दिल्ली में एक ऐसी संस्था है, जिसकी सत्रह शैक्षिक संस्थाएँ सदस्य हैं। ये संस्थाएँ परीक्षाओं का संचालन करती हैं और इन संस्थाओं की परीक्षाएँ भारत-सरकार से मान्यताप्राप्त हैं। ये संस्थाएँ हैं : हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; हिन्दी-विद्यापीठ, देवघर; राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, वर्धा; बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ, बम्बई; हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा, बम्बई; सौराष्ट्र हिन्दी-प्रचार-समिति, राजकोट; गुजरात-विद्यापीठ, अहमदाबाद; दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा, मद्रास; केरल हिन्दी-प्रचार-सभा, त्रिवेन्द्रम्; मणिपुर हिन्दी-परिषद्, इम्फाल; असम राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति, गोहाटी; उड़ीसा राष्ट्रभाषा-परिषद्, पुरी; कर्नाटक हिन्दी-महिला-सेवा-समिति, बँगलोर; महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा-सभा, पूना; मैसूर-रियासत हिन्दी-प्रचार समिति, बँगलोर; मैसूर हिन्दी-प्रचार-परिषद्, बँगलोर और हिन्दी-प्रचार-सभा, हैदराबाद।

इस हिन्दी-संस्था-संघ की ओर से, सद्भावना-यात्रा के उद्देश्य—राष्ट्रीय भावात्मक एकता और राष्ट्रीय एकता—को दृढ करने के लिए अनेक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं।

संस्था-संघ की ओर से हिन्दी के प्रचार और प्रसार के लिए 'राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति' के नाम से एक मंच की स्थापना भी की गई है। इसका प्रधान उद्देश्य केन्द्र में हिन्दी को और विभिन्न प्रदेशों में वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं को शासन में, शिक्षा के माध्यम के रूप में और न्यायालयों में भी उचित स्थान दिलवाना है।

राज्यमन्त्री **श्रीगुणेश्वरप्रसाद सिंह** ने अध्यक्षीय भाषण में कहा : बिहारवासियों के लिए यह बड़े सौभाग्य की बात है कि देश के तीन मूर्द्धन्य साहित्यकार—तमिल के **श्रीअकिलन्जी**, बँगला के **श्रीविमल मित्रजी** और मलयालम के **श्रीकृष्ण वारियरजी** इस सद्भावना-यात्रा पर आये हुए हैं। देश की आज जो परिस्थिति है, उसमें इस प्रकार की सद्भावना यात्रा, और विशेष रूप से जो गैरहिन्दी-भाषाभाषी राज्यों के मूर्द्धन्य साहित्यकार हैं, उनकी यात्रा अधिक महत्त्व रखती है। मेरा अपना निश्चित विश्वास है कि इस प्रकार की यात्राओं से देश की अखण्डता, सांस्कृतिक और भावात्मक एकता को मजबूत बनाने में बड़ा बल मिलेगा। सभी जानते हैं कि हिन्दी घृणा की भाषा नहीं है। वह प्रेम की भाषा है, प्यार की भाषा है, दुलार की भाषा है। हम किसी पर हिन्दी लादना नहीं चाहते हैं, लेकिन यह बात भी सत्य है कि हिन्दी ही एक भाषा है, जो इस देश की राष्ट्रभाषा हो सकती है, सम्पर्क-भाषा बन सकती है। इसे हमारे इन महान् अतिथियों ने भी स्वीकारा है। हम हिन्दी के साथ-साथ भारत की सभी क्षेत्रीय भाषाओं—तमिल, तेलुगु, मलयालम, गुजराती, मराठी, बँगला आदि की उन्नति चाहते हैं, सबकी तरक्की चाहते हैं। सबकी उन्नति के साथ ही हिन्दी का भी उचित संवर्द्धन हो सकेगा।

बिहार के शिक्षा-आयुक्त **श्रीशिवकुमार श्रीवास्तव** ने धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कहा : हिन्दी राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त कर चुकी है, लेकिन सही मानी में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रखना चाहते हैं, तो यह काम राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित होकर ही करना होगा। भारत की कई भाषाएँ हैं, इसलिए उन भाषाओं के बोलनेवालों को यह अनुभव कराना होगा कि हिन्दी सही मानी में उनकी सम्पर्क-भाषा है। ताकि, वे हिन्दी पढ़कर केवल हिन्दी-साहित्य का ही लाभ न उठायें, बल्कि भारत की जितनी भी भाषाएँ हैं, उनके भी साहित्य का ज्ञान उनको हो सके। मैं बिहार-सरकार की ओर से तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से आगत साहित्यकारों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

बिहार-राज्य-विश्वविद्यालय-सेवा-आयोग के अध्यक्ष **श्रीनवलकिशोर गौड़** ने समारोह का समापन करते हुए कहा : आज राष्ट्रभाषा-परिषद् के इस प्रांगण में, हमने राष्ट्रभारती का जो अभिषेक किया है—इन त्रिमूर्त्तियों की वाणी से, वह अभिषेक किसी काल में हम राष्ट्र के सम्राट् का किया करते थे। भारत की समस्त नदियों का जल संकलित करके अभिषेक होता था। आज राष्ट्रभारती और राष्ट्रभाषा का यह अभिषेक गंगा और यमुना, कृष्णा और कावेरी तथा गोदावरी की सम्मिलित रसधारा से सम्पन्न हुआ है।

☐ **ध्वन्यंकन-प्रस्तुति : श्रीराधावल्लभ शर्मा**

o

परिषद् की गौरवमयी परम्परा : २६वाँ वार्षिक अधिवेशन

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के वार्षिक अधिवेशनों की अपनी ऐतिहासिक परम्परा रही है, साथ ही साहित्यिक गरिमा भी। परिषद् की आत्मा में हिन्दी के दधीचि **आचार्य शिवपूजन सहाय** की सांस्कृतिक विरासत प्रतिनिहित है। **आचार्य शिवजी** के विशाल साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रति हिन्दी-जगत् की जो आदर-भावना है, वह परिषद् की सांस्कृतिक चेतना में प्रतिसंक्रान्त हो गई है। इसलिए, परिषद् के औत्सविक क्षणों में सम्पूर्ण हिन्दी-संसार की सद्भावना स्वतः स्फूर्त्त और आवर्जित हो उठती है और इसीलिए विभिन्न विधाओं के साहित्यकारों का अयाचित महार्घ सहयोग सहज ही सुलभ हो जाता है और तब आश्चर्यकारी ढंग से उत्सव में शोभा और गरिमा का चार चाँद लग जाता है। गत १३-१४ मई को सम्पन्न परिषद् का २६वाँ वार्षिकोत्सव उक्त यथार्थता को अक्षरशः अन्वर्थ करनेवाला सिद्ध हुआ है।

परिषद् एक ऐसी सारस्वत सिद्धपीठ-स्थली है कि इसका कोई भी उत्सव जहाँ कहीं भी सम्पन्न होता है, देश, काल और पात्र को अपनी वरेण्यता से पर्यावृत कर लेता है। यह संस्था स्वयम्प्रकाशित है, इसलिए जो भी देश, काल और पात्र इससे सम्बद्ध होता है, गौरवान्वित और महिमा-मण्डित हो उठता है। इस शोध-संस्था का गौरव इतना विशाल है कि इससे सम्पृक्त होकर कोई भी व्यक्ति अपने को गौरवशाली समझता है। यही कारण है कि पटना का **भारतीय नृत्यकला-मन्दिर**, जिसकी कलात्मक गौरव-गरिमा का अपना उत्कर्ष स्वयंसिद्ध है, परिषद् के वार्षिकोत्सव की स्थली के रूप में द्विगुण सांस्कृतिक सुषमा से भर उठा।

अतिशय कलात्मकता से सुसज्जित 'भारतीय नृत्यकला-मन्दिर' के सभामंच से भारतीय सारस्वत संस्कृति का उज्ज्वलतम प्रकाश प्रवाहित हो रहा था। सभामण्डप के द्वार पर परिषद्-अध्यक्ष, बिहार के उच्चतर शिक्षामन्त्री **श्रीठाकुरप्रसाद सिंह** द्वारा परिषद्-सदस्यों का सम्मान्य अतिथियों से परिचय कराने के बाद सबकी शोभायात्रा सभामंच पर आकर सभा के रूप में परिणत हो गई। मंच पर समासीन हिन्दी के युगप्रवर्त्तक कथाकार **श्रीजैनेन्द्रकुमार** तथा हिन्दी और गुजराती के मनीषी चिन्तक **श्रीउमाशंकर जोशी** साहित्य के दो युगों के मिलन का दृश्य उपस्थित कर रहे थे, जिनके इर्दगिर्द बैठे पुरस्करणीय विद्वान् लेखकों, छात्र-छात्राओं, अथच निबन्ध-पाठकों एवं परिषद् के मान्य सुधी सदस्यों की मण्डली भारत की प्राचीन विद्वद्गोष्ठी का स्मरण दिला रही थी।

परिषद् के निदेशक **आचार्य श्रुतिदेव शास्त्री** की अपनी सहज सुजनता से आवेष्टित घोषणा के साथ अधिवेशन का समारम्भ **डॉ० शान्ति जैन** के मानस-मंगलाचरण से मुखरित हुआ, जिसकी सांगीतिक माधुरी की मोहक स्वरधारा में उपस्थित दर्शकों का हृदय तरंगित हो उठा। मंगलाचरण के बाद, परिषद्-अध्यक्ष **श्रीठाकुरप्रसादसिंह** ने स्वागत-

भाषण के क्रम में परिषद् की विकासात्मक उपलब्धियों और अभावों का दिग्दर्शन कराते हुए कतिपम नवीन परियोजनाएँ प्रस्तुत कीं। स्वागत-भाषण से उपस्थित दर्शकों की वैचारिक सहानुभूति परिषद् की उपलब्धियों से जहाँ आह्लादित हुई, वहीं उसकी कमियों की पूर्त्ति के लिए सरकार के प्रयत्नों की भावी योजना से आश्वस्त भी हो गई। इसके बाद, परिषद्-निदेशक के कार्यविवरण-पाठ से स्वागत-भाषण को जैसे नई व्याख्या मिल गई, जिसमें परिषद् की रचनात्मक प्रगति बार-बार अनुध्वनित होती रही।

साहित्य-अकादमी, दिल्ली के अध्यक्ष **श्रीउमाशंकर जोशी** ने अपने उद्घाटन-भाषण में परिषद् के साहित्यिक प्रयत्नों की भूरि-भूरि अनघाई प्रशंसा करते हुए जो कहा, उसका निष्कर्ष यह था कि आज हिन्दी के माध्यम से देश की सांस्कृतिक सेवा की आवश्यकता है। भाषा-भेदों की दीवार को भेदने की चेष्टा कम हुई है। यह काम हिन्दी के माध्यम से ही सम्भव है। इस सन्दर्भ में 'केन्द्रीय ग्रन्थनिधि' की स्थापना की आवश्यकता है। साथ ही, विभिन्न भाषाओं के ग्रन्थों के सीधे मूल से नागरी-लिप्यन्तरण और हिन्दी-अनुवाद की अपेक्षा है, जिसके लिए पंचवर्षीय योजना चलानी चाहिए।

श्रीजोशीजी के भाषण से अधिवेशन-समारोह की स्थली में जैसे एक विशिष्ट गम्भीरता लहरा उठी और इसी वातावरण में परिषद् के वरिष्ठ सदस्य **डॉ० माहेश्वरी सिंह 'महेश'** ने शुभ-कामनाओं के सन्देशों का पाठ किया, जिससे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे परिषद् के प्रति सम्पूर्ण राष्ट्र की ओर से कल्याणकामना की एकबारगी वर्षा हो गई। तदनन्तर, समारोह के अध्यक्ष **श्रीजैनेन्द्रकुमार** ने विभिन्न पुरस्कार वितरित किये, जिससे परिषद् द्वारा किये जानेवाले प्रतिभा-पुत्रों के प्रोत्साहन-कार्य की झाँकी से उपस्थित दर्शकवृन्द भावविह्वल और गौरवोद्ग्रीव हो उठा। उपस्थित छात्र-समूह को छात्र-पुरस्कारों से प्रेरणा मिली और वे अगले समारोह में स्वयं अपने को पुरस्कृत देखने के लिए लालायित और प्रोत्साहित हो उठे। पुरस्कार-प्रदान के क्रम में बिहार-राज्य-विश्वविद्यालय-सेवा-आयोग के अध्यक्ष तथा परिषद् के वरिष्ठ सदस्य **श्रीनवलकिशोर गौड़** ने सरस साहित्यिक शैली में पुरस्कृत व्यक्तियों और निबन्ध-पाठकों का परिचय-पाठ प्रस्तुत किया, जिससे सम्मान्य अतिथियों की साहित्यिक साधना को एक ऐतिहासिक आयाम मिल गया और दर्शकों का मन पुरस्कृतों की विद्वत्ता का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त करके पुरस्कारों की सार्थकता की तीव्रानुभूति से उच्छ्वसित हो उठा।

इस अवसर पर प्रसिद्ध पत्रकार **स्व० हवलदारीराम गुप्त 'हलधर'** को मरणोत्तर वयोवृद्ध साहित्यिक सम्मान-पुरस्कार दिया गया। इनके अतिरिक्त, अहिन्दी-भाषी हिन्दी-ग्रन्थ-लेखिका **डॉ० एस्० वसन्ता,** अखिलभारतीय हिन्दी-ग्रन्थ-लेखक **डॉ० शिवदयाल सक्सेना** तथा बिहारी-ग्रन्थलेखकों में **डॉ० बदरीनारायण सिन्हा** पुरस्कृत हुए। **श्रीराधाकृष्णजी** की अनुपस्थिति के कारण उनका पुरस्कार परिषद्-सदस्य **डॉ० फादर कामिल बुल्के साहब** को सौंप दिया गया और बाद में राँची जाकर समारोह के साथ पुरस्कार देने का निश्चय किया गया।

समारोह के अध्यक्ष **श्रीजैनेन्द्रकुमार** ने जब अपना अध्यक्षीय भाषण प्रारम्भ किया, तब इस विराट् चिन्तक की मन्त्रपूत वाणी की विशिष्ट वैचारिक मोहकता से सारा वातावरण चित्रित-चमत्कृत रह गया ! **श्रीजैनेन्द्रजी** के भाषण का निष्कर्ष था कि राष्ट्र-भाषा का प्रश्न भाषा से अधिक राष्ट्र का प्रश्न है। अँगरेजी का पिछलग्गूपन किसी भी स्थिति में शोभनीय नहीं है। साहित्य की पार्थिव शक्ति के लिए आवश्यक है कि वह प्रभुता के दम्भ को कभी स्वीकार न करे। दक्ष अनुवादकों की सेना हो। आज भाषा की समस्या को न केवल भाषिक स्तर पर, अपितु राष्ट्रीय स्तर पर समाहित करने की आवश्यकता है।

सच पूछिए, **श्रीजैनेन्द्रकुमारजी** के भाषण ने परिषद् के समारोह को अविस्मरणीय साहित्यिक-सात्त्विक सार्थकता प्रदान कर दी और यह २६वाँ वार्षिक अधिवेशन विशुद्ध साहित्यिक समारोह का प्रतिमान हो गया।

परिषद् के वरिष्ठ सदस्य तथा सेण्ट जेवियर्स कॉलेज के हिन्दी-विभागाध्यक्ष **डॉ० फादर कामिल बुल्के** ने धन्यवाद-भाषण किया और उस क्रम में उन्होंने बताया कि परिषद् **आचार्य शिवपूजन सहाय** का लगाया हुआ बिरवा है, जिसे पल्लवित-पुष्पित होते देख आज सम्पूर्ण हिन्दी-जगत् गौरवान्वित हो रहा है।

राष्ट्रगान के बाद समारोह की पहली प्रस्तुति की समाप्ति की घोषणा हुई और द्वितीय प्रस्तुति में सांस्कृतिक आयोजन सम्पन्न हुआ। सांस्कृतिक कार्यक्रम की आयोजिका **डॉ० शान्ति जैन** के प्रयास से भाषणों से ऊबे दर्शकों को सांगीतिक सरसता से स्नात और सारस्वत विश्रान्ति से आप्यायित होने का अवसर मिला। **श्रीपंकजचरण दास** के निर्देशन में प्रस्तुत **कुमारी विजयलक्ष्मी दास** के ओडिसी-गीतिनृत्य और प्रसिद्ध संगीतकार **श्रीब्रह्मदेवनारायण सिंह** के निर्देशन में प्रस्तुत काव्यसंगीत ने अधिवेशन के प्रथम दिन के कार्यक्रम को 'मधुरेण समापयेत्' की सार्थकता दी।

अधिवेशन के दूसरे दिन, निबन्ध-गोष्ठी **श्रीजैनेन्द्रकुमार** की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। इस अवसर पर मैसूर-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभागाध्यक्ष **डॉ० मे० राजेश्वरैया** ने कन्नड-साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों पर तथा **श्रीआर्० शौरिराजन** की अनुपस्थिति में **डॉ० एस्० वसन्ता** ने तमिल-साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों पर निबन्ध-पाठ किया। इसके बाद रात्रि में, एक विशिष्ट कवि-सम्मेलन से इस ऐतिहासिक २६वें अधिवेशन की पूर्णाहुति हुई।

इस प्रकार, इस अधिवेशन ने परिषद् की प्राणवत्ता का जल्दी न भुलानेवाला परिचय दिया है और इससे न केवल बिहार, अपितु सम्पूर्ण हिन्दी-वाङ्मय में चेतना का प्रस्पन्दन हुआ है। इसके लिए बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग ने और स्वयं शिक्षामन्त्री ने अधिवेशन की सफलता के लिए जो स्पृहणीय अभिरुचि दिखाई, उससे जनता-सरकार के, हिन्दी के विकास की दिशा में किये जानेवाले प्रयासों का ततोऽधिक श्लाघ्य निदर्शन प्रस्तुत हुआ है।

मुख्यमन्त्री **श्रीकर्पूरी ठाकुर** की, अधिवेशन में कारणवश अनुपस्थिति से जो रिक्तता रह गई थी, उसकी पूर्त्ति, **श्रीराधाकृष्णजी** को पुरस्कार अर्पित करने के लिए राँची में आयोजित समारोह में शानदार ढंग से हो गई। **श्रीकर्पूरी ठाकुर** ने राँची में स्वयं अपने हाथों **श्रीराधाकृष्णजी** को पुरस्कार प्रदान करते हुए साहित्यकारों की सेवा-सहायता के लिए राज्य-स्तर पर समुचित आर्थिक अनुदान का आश्वासन दिया, साथ ही 'साहित्यकार कलाकार-कोष' को **स्व० डॉ० जाकिर हुसैन** के नाम से विभूषित करके उस कोष की राशि को बढ़ाने का संकल्प अभिव्यक्त किया।

इस प्रकार, परिषद् के विकास-विस्तार में मुख्यमन्त्री ने अपनी विशिष्ट अभिरुचि प्रदर्शित करके परिषद् की स्थापना के उद्देश्य को अन्वर्थता प्रदान की, जिससे यह सिद्ध हो गया कि विहार के साहित्यिक-सांस्कृतिक उन्नयन के लिए **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्** जैसी संस्था अनिवार्य है।

□ **प्रस्तुति : (प्रो०) श्रीरंजन सूरिदेव**

oo

सम्पादकीय : पृ० ८ का शेषांश]

साहित्यिक पदाधिकारियों की टिप्पणियों का शोध

सम्प्रति, हिन्दी-जगत् में शोध का बहुमुख विकास हो रहा है, फिर भी तात्त्विक शोध की दृष्टि से जो कार्य हुआ है, वह नगण्यप्राय ही है। तात्त्विक शोध के अनेक आयाम ऐसे हैं, जिनकी ओर शोधकर्त्ताओं की दृष्टि नहीं गई है। साहित्यिकों के पत्रों के संकलन-सम्पादन के समस्तरीय ही ततोऽधिक विशिष्ट शोध का विषय है—साहित्यिक पदाधिकारियों की टिप्पणियों या उनके द्वारा तैयार किये गये पत्र-प्रारूपों के ऐतिहासिक अंशों का संकलन और सम्पादन। यह शोधकार्य अपने-आप में जहाँ बहुत ही अधिक रुचिकर होगा, वहीं उपयोगी भी प्रमाणित होगा।

अनुभवी पदाधिकारियों का कथन है कि सरकारी संचिकाओं के कागजात स्वयं बोलते हैं। तभी तो सरकारी पदाधिकारी संचिकाओं में उल्लिखित टिप्पणियों के अध्ययन के आधार पर विचारणीय विषयों की तह तक पहुँचकर निर्णय लेते हैं और तदनुकूल अपनी टिप्पणियाँ अंकित करते हैं। संचिकाओं पर टिप्पणियाँ लिखना साधारण बात नहीं है। पदाधिकारियों की सूझ-बूझ जितनी अधिक पैनी होगी, उनका अनुभव और सन्दर्भगत विषयों का अभ्यास तथा भाषिक ज्ञान जितना अधिक परिपक्व होगा, उनकी टिप्पणियाँ उतनी ही अधिक सशक्त और विषयानुकूल होंगी। यों तो, टिप्पणियाँ सभी अधिकारी (न्यायपालिका, कार्यपालिका एवं विधायिका के कार्यरत लिपिकों से उच्चतम पदाधिकारियों तक) लिखते हैं; किन्तु कुछेक पदाधिकारियों की टिप्पणियाँ ही श्लाघा

के योग्य होती हैं। सरकारी सेवा में जो पदाधिकारी जितने अच्छे टिप्पणीकार या प्रारूप-निर्माता होते हैं, वे उतने ही अधिक सम्मान और ख्याति के पात्र सिद्ध होते हैं तथा प्रशासन के इतिहास में क्रोशशिला के संस्थापक माने जाते हैं।

सरकारी सेवा के क्षेत्र में संचिका की दुनिया निराली समझी जाती है। संसार को जिस प्रकार प्रपंचजाल कहा जाता है, उसी प्रकार सचिवालय में भी संचिकाओं का जाल बिछा रहता है, जो भवजाल की तरह ही दुस्तर हुआ करता है। और फिर, जिस प्रकार सद्गुरु मिल जाने पर संसार से निस्तार हो जाता है, उसी प्रकार सबल टिप्पणीकार मिलने पर अभ्यर्थी संचिकाओं के जाल से त्राण पा जाते हैं। जटिल सरकारी तन्त्र का सफल संचालन अधिकांशतः व्युत्पन्नमति पदाधिकारियों की मूल्यवान् टिप्पणियों पर ही निर्भर करता है, जिनमें अनेक बहुमूल्य सुझाव और राष्ट्रहितकारी योजनाएँ संकेतित रहती हैं।

साहित्यिकों में भी अनेक ऐसे सूक्ष्मेक्षिका-सम्पन्न कृतविद्य पदाधिकारी हुए हैं, जिन्होंने अपनी सारवान् टिप्पणियों में जगह-जगह साहित्यिक छटा छिटकाई है। विशेषकर, भाषिक और साहित्यिक-सामाजिक अभ्युन्नति से सम्बद्ध सरकारी कार्यालयों या शोध-संस्थानों के साहित्यिक पदाधिकारियों ने अधिक संवेदनशील टिप्पणियाँ लिखने या पत्र-प्रारूप तैयार करने की दृष्टि से उल्लेखनीय विशिष्टता का प्रदर्शन किया है।

साहित्यिक शोध-संस्थानों के विद्वान् पदाधिकारियों ने तो भाषा और साहित्य की उन्नति के लिए जो टिप्पणियाँ लिखी हैं या जो सरकारी पत्रों के प्रारूप तैयार किये हैं, उनमें अनेक ऐसी बातें अवश्य आई होंगी, जिनका साहित्येतिहास की दृष्टि से विशिष्ट मूल्य होगा। यदि मूर्द्धन्य साहित्यिकों की टिप्पणियों का राष्ट्रीय स्तर पर शोध-संकलन किया जाय, तो हिन्दी-साहित्य के अनेक अज्ञात पक्ष उभरकर सामने आयेंगे, साथ ही साहित्य-क्षेत्र में होनेवाली समकालीन राजतन्त्र की गतिविधि पर भी प्रामाणिक प्रकाश पड़ेगा। कहना न होगा कि साहित्यिकों की वे टिप्पणियाँ, निश्चय ही, तत्कालीन साहित्य का इतिहास-खण्ड प्रमाणित होंगी।

☐ सूरिदेव

●●

शोक-प्रस्ताव

हिन्दी-जगत् के मूर्द्धन्य साहित्यकार, प्रबुद्ध नाटककार एवं संस्मरण-लेखक, आकाशवाणी के पूर्ववर्त्ती महानिदेशक, संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्था 'कृषि-खाद्य-संगठन' के दक्षिण-पूर्व एशिया के निदेशक, भारत-सरकार के हिन्दी-सलाहकार एवं कृषि-विभाग के संयुक्त सचिव, बिहार-सरकार के पूर्ववर्त्ती शिक्षा-सचिव तथा आयुक्त और प्रशासनदक्ष वर्चस्वी प्रज्ञापुरुष **श्रीजगदीशचन्द्र माथुर**, आइ० सी० एस्० के असामयिक एवं आकस्मिक देहावसान पर परिषद्-परिवार मर्माहत है !

पुण्यश्लोक **माथुरजी** ने परम्पराशील नाट्य और बहुजन-सम्प्रेषण के माध्यमों के मौलिक चिन्तक के रूप में विपुल कीर्त्ति अर्जित की। अपनी कृतियों, विशेषतः एकांकी नाट्य-कृतियों की रचना द्वारा आपने हिन्दी के साहित्य-भाण्डार को स्पृहणीय समृद्धि प्रदान की। आप बिहार के विभिन्न साहित्यिक शोध-प्रतिष्ठानों के जनक तथा अनेक सांस्कृतिक संस्थानों के प्राण थे। आप स्वयं अपने-आपमें एक संस्था थे। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् भी आपकी सारस्वत परिकल्पना का साकार रूप है। आपके लोकान्तरित हो जाने से न केवल साहित्य-संसार, अपितु सम्पूर्ण राष्ट्र की गौरव-गरिमा का संवहन करनेवाली रीढ़ की एक महत्त्वपूर्ण हड्डी टूट गई ! परिषद् की तो अपूरणीय वैयक्तिक क्षति हुई है !

परिषद् के मनीषी लेखकों में **स्व० माथुर** का पांक्तेय स्थान रहा है। भारतीय संस्कृति और कला के अनुरागी तथा देश की सांस्कृतिक चेतना को उद्बुद्ध करने की भावना से ओतप्रोत आपने 'वैशाली-संघ' की स्थापना करके बिहार-प्रदेश के प्राचीन ऐतिहासिक गौरव का उद्धार किया। विभिन्न उच्चतर सरकारी पदों पर प्रतिष्ठित होकर आपने गया में रहते समय 'बुद्ध-जयन्ती' की ऐतिहासिक परम्परा का प्रवर्त्तन किया। सरलप्रकृति, मंजुभाषी, चिरप्रसन्न तथा सहृदय साहित्यकार माथुरजी का निधन निश्चय ही अतिशय शोकजनक है !

परिषद्-परिवार के सदस्यों की यह शोकसभा दिवंगत **माथुरजी** की आत्मा की चिरशान्ति एवं उनके शोक-सन्तप्त परिवार के धैर्य के लिए परमपिता से सांजलि प्रार्थना करती है।

मृत्यु-तिथि : १४ मई, १९७८ ई०
मृत्यु-स्थान : नई दिल्ली

(पं०) श्रुतिदेव शास्त्री
निदेशक

शोक-प्रस्ताव

पटना-विश्वविद्यालय के पूर्ववर्त्ती हिन्दी-विभागाध्यक्ष, संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के मर्मज्ञ विद्वान्, मूर्द्धन्य मनीषी साहित्यकार तथा अनेक पार्यन्तिक शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणेता **प्रो० जगन्नाथराय शर्मा** के असामयिक दुःखद देहावसान पर परिषद्-परिवार मर्माहत है।

पुण्यश्लोक **प्रो० शर्मा** ने शोध और अनुसन्धान-जगत् में अपनी सूक्ष्मेक्षिका, विशिष्ट कार्यपद्धति एवं चिन्तन-प्रणाली तथा सारस्वत श्रमनिष्ठा से नवीन वातायन उद्घाटित किया। इस सन्दर्भ में उनकी 'मानसोद्गम-मीमांसा' नामक गवेषणात्मक कृति और 'सूरसागर' की विशद विस्तृत टीका की रचना अतिशय उल्लेखनीय है। इन महत्कृतियों से साहित्यिक शोध के यात्रामार्ग में जो क्रोशशिला स्थापित हुई है, वह परवर्त्ती शोध-पीढ़ी को अनुक्षण प्रेरणा और दिशा देती रहेगी। निश्चय ही, **प्रो० शर्मा** के निधन से शोधक्षेत्र का एक सुमेरु-शिखर ही टूट गया!

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से **प्रो० शर्मा** सघन रूप से सम्बद्ध रहे। परिषद् के वरिष्ठ सदस्यों में उनका पांक्तेय स्थान था। उनकी मृत्यु से परिषद् की, निस्सन्देह, अपूरणीय वैयक्तिक क्षति हुई है!

परिषद्-परिवार की यह शोकसभा दिवंगत **शर्माजी** की आत्मा की चिरशान्ति और उनके शोक-सन्तप्त परिवार के धैर्य के निमित्त परमपिता परमात्मा से सांजलि प्रार्थना करती है।

मृत्यु-तिथि : १७ मई, १९७८ ई०
मृत्यु-स्थल : डेहरी (भोजपुर)

(पं०) श्रुतिदेव शास्त्री
निदेशक

परिषद् के अभिनव गौरव-ग्रन्थ

१. साहित्य का मूल्यांकन : प्रो० सिद्धेश्वर प्रसाद १८.००
२. बिहार की कृषि और सामाजिक व्यवस्था : डॉ० चन्द्रिका ठाकुर १४.००
३. वाराणसी-वैभव : पं० कुबेरनाथ सुकुल ३५.००
४. भारतीय संस्कृति और साधना (प्र० खं० : द्वि० सं०) :
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज ३५ ००
५. भोजपुरी संस्कार-गीत : सं० पं० हंसकुमार तिवारी : श्रीराधावल्लभ शर्मा २०.००
६. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (द्वि० खं० : द्वि० सं०) :
सं० पं० हंसकुमार तिवारी : पं० रामनारायण शास्त्री १२.५०
७. भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि : डॉ० रामदेव त्रिपाठी ३१.००
८. प्राचीन भारतीय मूर्त्तिविज्ञान : डॉ० नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी ३२.००
९. हिन्दी-साहित्य और बिहार : स० पं० हंसकुमार तिवारी : डॉ० बजरंग वर्मा २८.००
१०. तन्त्र तथा आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन : मूल : म० म० पं० गोपीनाथ कविराज:
अनु० : पं० हंसकुमार तिवारी ९.००

●

परिषद् के आगामी प्रकाशन (यन्त्रस्थ)

१. विद्यापति-पदावली (तृतीय खण्ड) : विद्यापति-विभाग द्वारा प्रस्तुत
२. पहेली-कोश : लोकभाषा-विभाग द्वारा प्रस्तुत
३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त : म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि (द्वि० सं०) : म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
५. भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन की पीठिका : डॉ० विद्यानिवास मिश्र
६. एलिफैण्टा : श्रीहरिनन्दन ठाकुर
७. रहीम-साहित्य की भूमिका : डॉ० बमबम सिंह 'नीलकमल'
८. भारतीय संस्कृति और साधना (द्वि० खं० : द्वि० सं०) :
म० म० पं० गोपीनाथ कविराज
९. कथासरित्सागर (भाग २ : द्वि० सं०) : अनु० पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत
१०. मुद्रण-कला (द्वि० सं०) : पं० छविनाथ पाण्डेय

प्राप्तिस्थान :

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना-८०००० ४

●

परिषद् : मनीषियों के आशंसन

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की, हिन्दी के प्रचार-प्रसार और भावात्मक एकता स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण सेवाएँ हैं।

☐ **श्रीजगजीवन राम**

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, देश की सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी संस्था रही है और शोध तथा प्रकाशन के क्षेत्र में इसने अपनी विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि के बल पर एक मानदण्ड स्थापित किया है। इसके प्रकाशन मुझे सदैव रुचिकर एवं महत्त्वपूर्ण लगे हैं।

☐ **श्रीअटलविहारी वाजपेयी**

- हिन्दी के सामर्थ्य-वर्द्धन के लिए विविध क्षेत्रों में जो कदम उठे, उनमें बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्थापना भी एक कदम था। परिषद् ने अपने जीवन के विगत वर्षों में हिन्दी की अच्छी सेवा की है। मेरी हार्दिक कामना है कि परिषद् हिन्दी को समृद्ध बनाने के लिए इसी प्रकार कार्य करती रहे।

☐ **पं० कमलापति त्रिपाठी**

- भारतीय भाषा, साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास पर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों से मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ। सभी भारतीय साहित्यिक शोध-संस्थानों में परिषद् अग्रगण्य है।

☐ **डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या**

- परिषद् ने विगत पच्चीस वर्षों में हिन्दी-जगत् की और उसके माध्यम से समस्त भारतीय वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति, दर्शन आदि की जो सेवा की है, उसे शब्दों में आँकना बहुत कठिन है। **भाई शिवपूजन सहायजी** ऐसा स्वप्न बराबर देखते रहते थे। परिषद् ने इस स्वप्न को साकार किया और एक-से-एक अमूल्य ग्रन्थ विद्वत्समाज को भेंट किया। वह परम्परा उज्ज्वलतर हो रही है और परिषद् का भविष्य स्वर्णिम है।

☐ **श्रीरायकृष्ण दास**

- बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी-साहित्य को अनेक मूल्यवान् ग्रन्थों से समृद्ध किया है। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध करनेवाली संस्थाओं में उनका बहुत ऊँचा स्थान है। अनेक रूपों में हिन्दी के वरिष्ठ साहित्यकार इससे सम्बद्ध रहे हैं। **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** जैसे मनीषी ने बड़ी सावधानी से इस पौधे को लगाया था। उनका आशीर्वाद सदा इसके साथ रहा है।

☐ **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी**

- परिषद् ने जो अबतक राष्ट्रभाषा की उत्तरोत्तर प्रगति में उल्लेखनीय योगदान किया है, वह किसी से छिपा नहीं है और इसकी सभी सराहना करते हैं।

☐ **पं० परशुराम चतुर्वेदी**

प्रकाशक : **बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-८००००४**

मुद्रक : **रोहित प्रिण्टिंग वर्क्स, पटना-८००००४**

आवरण-मुद्रक : **नेशनल ब्लॉक ऐण्ड प्रिण्टिंग वर्क्स, पटना-८००००४**